जयतीर्थ की न्यायसुधा – एक अध्ययन

(Nyāya - Sudhā of Jayatīrtha — A Study)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्ता

मुरलीमनोहर

निर्देशक

डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

विक्रमाब्द २०३९

१९८२

: क :

आत्म निवेदन

तत्त्व-जिज्ञासा मानव का सहज स्वभाव होती है । यद्यपि मैं इण्टरमीडिएट तक विज्ञान और गणित का छात्र रहा, किन्तु भारतीय संस्कृति और दर्शन के प्रति मेरा स्वभावत: ही अधिक रुझान था । अत: मैंने विज्ञान वर्ग छोड़कर प्रयाग विश्वविद्यालय में संस्कृत, अंग्रेजी साहित्य और प्राचीन इतिहास विषय लेकर बी० ए० में प्रवेश लिया । दैवी-वाक् संस्कृत के रूप भारतीय संस्कृति और दर्शन मेरे समक्ष मूर्तिमान् हो उठते थे । बी० ए० द्वितीय वर्ष में पाठ्यक्रम में निर्धारित 'कठोपनिषद्' ने मुझे मानव-जीवन की सार्थकता का मार्ग दिखाया । इससे मेरी सहज तत्त्व जिज्ञासा की भावना को और बल मिला । एम० ए० पूर्वार्ध में तर्कभाषा, सांख्य तत्त्व-कौमुदी और वेदान्तसार के अध्ययन से मेरी भावना और पुष्ट हुई । फलत: मैंने एम० ए० उत्तरार्ध में विशेष वर्ग के रूप दर्शन-वर्ग को चुना । यहां पर मुझे न्यायदर्शन, पातञ्जल योग दर्शन, ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य और किञ्चित् बौद्ध दर्शन के अध्ययन करने का सुअवसर मिला और मैंने यह संकल्प किया कि एम० ए० उत्तीर्ण करने के बाद दर्शन वर्ग में ही शोध-कार्य करूंगा ।

इण्टरमीडिएट उत्तीर्ण करने के बाद से ही जब मैं नाना रूप जगत् में अनेक प्रकार के प्राणियों और उनकी भिन्न-भिन्न सुख-दु:ख की स्थितियों को देखता था तो मेरे मन में प्रश्न उठते थे कि प्राणियों के भिन्न-भिन्न देहों और उनके सुख-दु:ख का कारण क्या है, और इस समग्र जगत् की विभिन्न स्थितियों का नियामक कौन है ? महर्षि पतञ्जलि के योग दर्शन के अध्ययन से यह सम्यक् प्रकार से ज्ञात हुआ कि प्राणियों को अपने प्रारब्ध कर्मों के फलस्वरूप शरीर, आयु और भोग प्राप्त होते हैं । किन्तु इस सबका नियन्ता कौन है, यह प्रश्न अब भी बना रहा । ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में जगत् और सुख-

दु:खादि का मिथ्यात्व प्रतिपादित किया गया है। शंकर की युक्ति से उक्त मिथ्यात्व को स्वीकृत तो करना पड़ता था, किन्तु प्रत्यक्षादि से सबको अनुभूत होने वाले नानारूप जगत् और सुख दु:खादि की सत्यता अस्वीकृत नहीं की जा सकती है। अत: इस विषय के सम्यक् ज्ञान के लिये मैं उपयुक्त ज्ञापक की खोज में था। यह अनुकूल संयोग ही था श्रद्धेय गुरुवर्य डा० सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव महाभाग ने मुझे माध्व-वेदान्त की परम प्रसिद्ध कृति जयतीर्थ की 'न्यायसुधा' पर शोध करने की प्रेरणा दी, क्योंकि उत्तर भारत में माध्ववेदान्त का अध्ययन-अध्यापन प्राय: नगण्य ही है। 'न्यायसुधा' द्वैत वेदान्त परम्परा का उत्कृष्टतम ग्रन्थ माना जाता है, अत: अनेक सुधीजनों ने इस पर शोध करने के सुझाव का अनुमोदन भी किया।

मैंने उक्त कृति पर शोधकार्य करना स्वीकृत तो कर लिया किन्तु सबसे प्रमुख और प्रथम समस्या थी बाजार में पुस्तक का उपलब्ध न होना। अनेक प्रयत्न करने पर भी पुस्तक सुलभ नहीं हो सकी। इसका सम्भवत: एक ही संस्करण निर्णयसागर प्रेस से सन् ~~१८८७~~ १८९५ ई० में प्रकाशित हुआ था, जिसमें विषयानुक्रमणी आदि कुछ नहीं है। दक्षिण भारत से कुछ वर्ष पूर्व एक नवीन संस्करण भी कई भागों में प्रकाशित हुआ है, जिसके कुछ ही भाग प्रयाग में 'गङ्गानाथ झा केन्द्रीय विद्यापीठ' के पुस्तकालय में है। इसके अतिरिक्त उसकी टीका 'कन्नड' भाषा में है। अत: वह मेरे लिए उपयोगी नहीं थी। इलाहाबाद में प्रयाग विश्वविद्यालय के पुस्तकालय और भारतीभवन पुस्तकालय में पूर्वोक्त प्राचीन संस्करण की एक-एक प्रतियाँ हैं, किन्तु वे पुस्तकालय से बाहर ले जाकर पढ़ने के लिये सुलभ नहीं हैं, क्योंकि वे अत्यन्त जीर्ण हो चुकी हैं। मेरे बहुत आग्रह करने पर विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष महोदय ने 'अनुव्याख्यान' और 'न्यायसुधा' के प्रत्येक पन्ने पर प्लास्टिक कवर कराकर उस पर जिल्द लगवायी, तब वह उपयोग करने योग्य हुई। दूसरी समस्या यह थी कि इसकी अंग्रेजी या संस्कृत में कोई अच्छी टीका उपलब्ध नहीं थी।

राघवेन्द्र यति द्वारा लिखी `परिमल` नाम की एक संस्कृत टीका विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में अवश्य उपलब्ध है, किन्तु वह मूल `न्यायसुधा` की अपेक्षा इतनी संक्षिप्त है कि उसकी अपेक्षा मूलग्रन्थ से कुछ समझना अधिक सरल है।

अत: मैंने उसी मूलग्रन्थ का अध्ययन करना प्रारम्भ किया। `न्यायसुधा` जैसे ग्रन्थ को मूलत: समझना एक कठिन कार्य था, किन्तु मैंने बार बार उसका पारायण कर उसे यथाबुद्धि समझने में सफलता प्राप्त की। इस आवृत्ति में भी बीच बीच में किसी किसी सन्दर्भ स्थल को कई बार पढ़ना पड़ता, फिर भी जो समझ में न आते उन कठिन स्थलों के वाक्यों को लिखकर गुरुवर्य डा० श्रीवास्तव महाभाग के पास ले जाता और उनका स्पष्ट अर्थ समझता था। इस प्रकार द्वैत वेदान्त के इस विपुल और उत्कृष्टतम ग्रन्थ का अध्ययन समाप्त कर विचारणीय विषयों के क्रम से शोध-प्रबन्ध का लेखन कार्य प्रारम्भ किया। लिखते समय तत्तत् स्थलों का पुनरवलोकन भी कुछ आयास-साध्य था, क्योंकि प्राप्त पुस्तक में विषयानुक्रमणी, शीर्षक, अनुच्छेद-परिवर्तन आदि कुछ भी नहीं थे। किन्तु उन विषयों के पुनरवलोकन में भी अध्ययन से विशेष आनन्द प्राप्त होता था।

गुरुजनों के आशीर्वाद से यह कार्य पूर्ण हुआ किन्तु बहुत अधिक विलम्ब से। इस अनावश्यक विलम्ब का एक कारण जहां `न्यायसुधा` और उससे सम्बन्धित अन्य ग्रन्थों की दुर्लभता थी, वहीं आर्थिक परिस्थिति दूसरा प्रमुख कारण थी। दो वर्षों तक मुझे राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान-दिल्ली की ओर से दो सौ रुपये प्रति मास की दर से छात्रवृत्ति अवश्य मिली, जिसके लिये मैं संस्थान का कृतज्ञ हूं, किन्तु वह दो वर्षों का समय दुर्लभ और विशाल `न्यायसुधा` जैसे ग्रन्थ के अध्ययन के लिये अपर्याप्त सिद्ध हुआ। अत: मुझे अर्थसाधन के रूप में कुछ अन्य कार्य भी करना पड़ता था, जिससे मैं पूरा समय अध्ययन में नहीं दे पाता था।

इस शोध कार्य में मेरे निर्देशक, साहित्यव्याकरणदर्शनादि अनेक विषयों में पारंगत, विद्वद्वर, पितृतुल्य श्रद्धेय गुरुवर्य डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव महाभाग के सान्निध्य में मुझे जो मार्गदर्शन और ज्ञान प्राप्त हुआ, वह मेरे लिये अविस्मरणीय है। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन धृष्टता ही नहीं अपितु गुरु-गौरव की अवमानना है। त्याग और स्नेह की मूर्ति पूजनीया माता जी, एवं परम पूज्य पिताजी, जिन्होंने अपनी वृद्धावस्था में भी मुझे अध्ययन कार्य के लिये मुक्त रखा और यथाशक्य सौविध्य प्रदान किया, का स्नेह मेरे लिये सदैव उत्साह और प्रेरणा का स्रोत रहा। उनके प्रति तो सदैव आनृण्य ही मेरे लिये गौरव का हेतु है। पूज्यपाद मध्वाचार्य, भण्डारकेरि और पालिमार मठाधिपति श्री विद्यामान्यतीर्थभगवत्पाद और उनके शिष्य श्री रामाचार्य महाभाग के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूं, जिनसे मुझे अनेक विषयों के समझने में पर्याप्त मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। अपने परममित्र श्री लालचन्द्र पाण्डेय और श्री वेदप्रकाश द्विवेदी का मैं हृदय से आभारी हूं, जो इस कार्य में मुझे सदैव उत्साह और सहयोग प्रदान करते रहे। मेरे साथ रहने वाला उत्तरमध्यमा का छात्र सन्तोष कुमार पाण्डेय साधुवाद का पात्र है, जिसने मेरे सामान्य दैनिक कार्यों को यथाशक्ति करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से अध्ययन में मेरा सहयोग किया। अन्त में मैं श्री श्यामलाल तिवारी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूं, जिन्होंने बड़ी कुशलता के साथ टङ्कणकार्य सम्पादित किया। उन विद्वानों का भी मैं विशेष आभारी हूं जिनकी कृतियों का मैंने सहयोग लिया है।

(मुरली मनोहर)

मुरलीमनोहर

विषयानुक्रमणी

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

-०-

: क :

विषय प्रवेश

सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों में वेदान्त दर्शन का स्थान सर्वोपरि है। वेदान्त दर्शन का आधार ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषदें हैं, जिन्हें प्रस्थानत्रयी की संज्ञा दी गयी है। वेदान्त में धीरे-धीरे अनेक सम्प्रदाय प्रवर्तित हुए; जिनमें शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ के द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय प्रमुख हैं। इन सभी सम्प्रदायों में ब्रह्मसूत्रों को प्रमुख आधार बनाया गया है। उपनिषदों और गीता को शंकर, रामानुज और मध्व ने प्रमुखतः स्वीकृत किया है।

उक्त वेदान्त सम्प्रदायों में शंकर का अद्वैतमत सर्वप्रथम प्रवर्तित हुआ। शंकर अद्वितीय-प्रतिभा-सम्पन्न महापुरुष थे। दार्शनिक जगत् में उनका प्रभाव अनुपम है। उन्होंने अद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्म का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उनके अनुसार जगत् और जीवों की सत्ता वास्तविक नहीं है। एकमात्र ब्रह्म ही परमार्थतः सत् है। जीव, जगत् आदि ब्रह्म का विवर्त हैं। स्वरूपतः जीव, जगत् और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। शंकर का माया या अज्ञान का विचार विशिष्ट है। यह माया या अज्ञान किञ्चिद् भावरूप, अनादि और सदसद्-विलक्षण है। उसी अज्ञान का कार्य होने से जगत् भी सदसद्-विलक्षण है। जीवों को प्राप्त होते हुए प्रतीत होने वाले दुःखादि मिथ्या हैं। इनका कारण अनादि अज्ञान है। बन्धन के मिथ्या होने से मोक्ष भी अप्राप्त नहीं है। जीव स्वरूपतः नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त-स्वभाव है। अतः मोक्ष अप्राप्य-प्राप्ति नहीं, अपितु शास्त्रादि के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से दुःखादि के मिथ्यात्व और ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान ही मोक्ष है।

शंकर ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन अपनी सभी

कृतियों में किया है । इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है उनका ब्रह्मसूत्रभाष्य । इस भाष्य में उन्होंने अपने मत के समर्थन में अद्वैतपरक उपनिषद् वाक्यों को प्रमाण रूप से उद्धृत किया है । इन उपनिषद् वाक्यों को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने द्वैत श्रुतियों की भी अद्वैतपरक व्याख्या की है । शंकर के पश्चात् उनके अनेक अनुयायियों ने उनकी कृतियों पर उत्कृष्ट टीकाएं लिखीं । उनके उपनिषद्-भाष्यों पर भी अनेक टीकाएं लिखी गयीं तथा उनके अद्वैत सिद्धान्त का सयुक्तिक प्रतिपादन करने वाली अनेकानेक मौलिक कृतियों का भी सृजन हुआ । सम्प्रति अद्वैत वेदान्त का वाङ्मय इतना विशाल है कि उसका सम्पूर्ण रूप से अध्ययन सर्वथा दुष्कर है । उनके परवर्ती अनुयायियों में वाचस्पति, चित्सुख, अमलानन्द, श्रीहर्ष प्रभृति विद्वानों का अद्वैत के सयुक्तिक विवेचन में विशिष्ट योगदान रहा है ।

शांकर-मत में माया या अज्ञान का सिद्धान्त सर्वथा विलक्षण है । ब्रह्म को एकमात्र सत्ता, नित्य शुद्धबुद्धमुक्त-स्वभाव, सच्चिदानन्दस्वरूप और स्वयं प्रकाश मानते हुए अनादि माया की स्थिति को स्वीकृत करना तर्कसंगत नहीं लगता है । उसे अज्ञान से आवृत या माया से मोहित मानने से तो उसकी पराधीनता एवं अल्पज्ञता भी आपत्तित होती है । जीव और ब्रह्म के अभेद का सिद्धान्त भी तर्कों से प्रतिपादित होने पर भी युक्तियुक्त नहीं लगता है ।

उक्त सिद्धान्तों की दुरूहताओं और तर्कों से अत्यन्त बोझिल होते जाने से कालान्तर में लोगों की इस मत की ओर से अरुचि होने लगी । इसी समय रामानुज का आविर्भाव हुआ । उन्होंने अद्वैत-मत से थोड़ा वैमत्य प्रदर्शित करते हुए विशिष्टाद्वैत-मत का प्रवर्तन किया । जीव और ब्रह्म में सर्वथा अभेद न कहते हुए उन्होंने भेदाभेद मत का प्रतिपादन किया।

इन्होंने भी यद्यपि ब्रह्म को ही एकमात्र अद्वितीय सत्ता स्वीकृत किया किन्तु उसके चित् और अचित् अंश माने हैं। ब्रह्म के चित् अंश से जीवों और अचित् अंश से जड़ जगत् की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म और जीव में सर्वथा ऐक्य या अभेद न मानकर इन्होंने समुदाय-ऐक्य माना है। जीव अंश और ब्रह्म अंशी है। समस्त जीव समग्र रूप में ब्रह्म से अभिन्न है, किन्तु अंश जीवरूप से भिन्न है। जगत् को इन्होंने ब्रह्म का परिणाम माना है।

ब्रह्मसूत्रों पर रामानुज का भाष्य 'श्रीभाष्य' नाम से प्रथित है। यद्यपि रामानुज ने शांकर मत से अंशत: भिन्नता प्रदर्शित की किन्तु उनका पूर्णत: खण्डन नहीं कर सके। शांकरमत उस समय तक इतना प्रभावशाली हो गया था कि रामानुज उसके प्रभाव से अलग नहीं रह सके। शंकर के कुछ ही सिद्धान्तों में उन्होंने अंशत: परिवर्तन करके उन्हें नये रूप में प्रस्तुत किया। समस्त रूप में वे अद्वैत वेदान्त के दुरूह सिद्धान्तों के अपेक्षा सरल दार्शनिक सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं कर सके।

बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में दक्षिण भारत में उडिपी से थोड़ी दूर स्थित एक गांव में मध्वाचार्य का आविर्भाव हुआ। दार्शनिक क्षेत्र में इन्होंने नवीन क्रान्ति ला दी। मध्व ने स्पष्ट रूप से शंकर के अद्वैत मत का खण्डन करके द्वैतमत का पुष्ट प्रवर्तन किया। रामानुज के भेदाभेद मत का भी इन्होंने खण्डन किया। द्वैत मत के समर्थन में इन्होंने उपनिषद् वाक्यों के साथ ही ~~इन्होंने~~, श्रीमद्भागवत, गीता और पुराणों के वाक्यों को भी प्रस्तुत किया तथा अद्वैतियों के द्वारा अद्वैत के समर्थक के रूप में प्रस्तुत श्रुतिवाक्यों की भी द्वैतपरक व्याख्या की।

मध्वाचार्य के अनुसार ब्रह्म सगुण, सविशेष, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् स्वतन्त्र एवं नित्य है। जीव, जगत् आदि उससे सर्वथा भिन्न एवं

परतन्त्र हैं। जगत् और सुख दु:खादि सर्वथा सत्य है। जगत् ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न एवं उसके अधीन है। दु:खादि बन्ध के सत्य होने पर ही उससे मुक्ति की इच्छा और प्रयत्न उपपन्न होते हैं। मोक्ष भी सर्वथा निर्गुण, सुखदु:ख-रहित, निरपेक्ष और नित्य प्राप्त ब्रह्म भाव नहीं किन्तु प्राप्य और सुखयुक्त स्थिति है। ईश्वर की भक्ति मोक्ष का अद्वितीय साधन है। मुक्त अवस्था में जीव ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न रहता है।

इस द्वैत मत का प्रतिपादन करते हुए मध्व ने ब्रह्मसूत्रों पर तीन भाष्य लिखे। इनमें `अनुव्याख्यान` सर्वाधिक प्रसिद्ध है। अनुव्याख्यान में मध्व ने सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्रों को प्रस्तुत नहीं किया। जो सूत्र किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन में महत्त्वपूर्ण नहीं है उनका उल्लेख इसमें नहीं किया गया है। `अनुव्याख्यान` पर अनेक टीकाएं लिखी गयीं किन्तु इनमें जयतीर्थ की `न्याय-सुधा` अत्यन्त प्रसिद्ध है। समग्र संस्कृत वाङ्मय में यह एक अनुपम टीका है। द्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों को सम्यक् रूप से समझने के लिये यह अद्वितीय कृति है। इसमें द्वैत मत का प्रबल पोषण करते हुए सभी विरोधी सिद्धान्तों का खण्डन सूक्ष्म युक्तियों से किया गया है। मध्व का द्वैत सिद्धान्त प्रमुखत: शंकर के अद्वैत मत के विरोधी रूप से प्रवर्तित हुआ, अत: उसमें शांकर सिद्धान्तों का विशेषेण खण्डन किया गया है। शंकर के सिद्धान्तों में अभेद और मिथ्यात्व के सिद्धान्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। न्यायसुधा के अतिरिक्त अन्य कृतियों में भी जयतीर्थ ने इनकी विशद आलोचना की है।

मध्व के सिद्धान्त और उनकी ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या इतनी सुग्राह्य और यथार्थ है कि प्रारम्भ से ही उनका मत प्रभावशाली सिद्ध हुआ। उनके जयतीर्थ और व्यासराय जैसे अनुयायियों ने उनके सिद्धान्तों को तार्किक शक्ति प्रदान कर उसे अद्वैतमत के नवीनतम स्वरूप के समकक्ष पहुंचा दिया।

अपने पूर्व प्रवर्तित होने वाले विशिष्टाद्वैत मत को उसने पीछे छोड़ दिया । मध्वानुयायियों की यह विशिष्टता है कि उन्होंने मध्व के मूल सिद्धान्तों में किञ्चित् भी परिवर्तन या संशोधन नहीं किया और न किसी विषय पर परस्पर वैमत्य प्रदर्शित किया ।

व्यासराय ने मध्व के सिद्धान्तों को संक्षेप में इस प्रकार बताया है —

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत् तत्त्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावंगताः ।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनम्
ह्यक्षादि - त्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः ।।

जयतीर्थ ने अपनी सभी कृतियों में मध्वाचार्य के उक्त सिद्धान्तों का प्रबल पोषण किया है । न्यायसुधा में सभी सिद्धान्तों का प्रतिपादन सभी विरोधी मतों का सयुक्तिक खण्डन करते हुए किया गया है । मध्व के अनुसार ब्रह्म या विष्णु ही सर्वोत्कृष्ट हैं, जीव,प्रकृति आदि उनकी अपेक्षा अवर या अधम और उनके अधीन हैं । जीव विष्णु के सदृश नित्य और चेतन तो है किन्तु वह अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् और ईश्वर के अधीन है । मुक्ति में भी जीव ईश्वर के अधीन ही स्वरूप-सुख का भोग करता है ।

जगत् के विषय में मध्व के विचार स्पष्ट और यथार्थ हैं । जगत् का अनुभूयमान स्वरूप सर्वथा सत्य है । यह जगत् की सत्यता प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है । नित्यप्रति उसी रूप में अनुभूत होने वाले जगत् को मिथ्या या भ्रम कहना समीचीन नहीं है । भ्रमसिद्ध शुक्ति रजतादि के समीप जाने पर 'यह रजत नहीं है ' इस प्रकार का निषेधात्मक ज्ञान होता है,किन्तु

आकाशादि जगत् में 'यह आकाशादि नहीं है, ऐसा निषेधात्मक ज्ञान नहीं होता है।

ब्रह्म-जीव, जीव-जीव, जीव-जड़, जड़-जड और जड-ब्रह्म का भेद तत्त्वतः है। सर्वज्ञ ईश्वर और अल्पज्ञ जीवों में भेद तो साक्षि-प्रत्यक्षसिद्ध है। जीवों के परस्पर, जीव-जड़ आदि के भेद सर्वानुभूत है। जीवों में परस्पर सदैव तारतम्य रहता है। वे कभी भी एक समान नहीं होते हैं। मुक्त-अवस्था में भी उनमें परस्पर नीचोच्चभाव रहता है।

मध्व के उक्त सिद्धान्त सर्वथा तर्कसंगत एवं सरल हैं। न्यायसुधा इन समस्त सिद्धान्तों को समग्र रूप में प्रस्तुत करती है। अपनी परिपूर्णता और वैशद्य के कारण ही यह मध्व के अनुयायियों में 'सुधा' नाम से प्रसिद्ध है। 'सुधा वा पठनीया वसुधा वा पालनीया' की उक्ति इसकी विपुलता और गहनता की परिचायिका है।

ब्रह्म, जीव, जगत्, मोक्ष आदि प्रमुख दार्शनिक विषय हैं। इन विषयों पर 'न्यायसुधा' के विचार अत्यन्त स्पष्ट हैं। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में इन्हीं प्रमुख विषयों पर जयतीर्थ के विचारों का विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में सर्वत्र निर्णयसागर से सन् १८६५

(१८१७ शकाब्द) में प्रकाशित 'न्यायसुधा' का उपयोग किया

गया है ।

-0-

संक्षिप्त सङ्केत सूची

न्या० सु० - न्यायसुधा

महाभारत ता० नि० - महाभारत तात्पर्य-निर्णय

H.D.S.V. - History of Dvaita School of Vedanta and its literature.

मा० का० - माण्डूक्य कारिका

ब्र० सू० - ब्रह्मसूत्र

ऋ० - ऋग्वेद

श्वे० उ० - श्वेताश्वतरोपनिषद्

छा० उ० - छान्दोग्योपनिषद्

बृ० उ० - बृहदारण्यकोपनिषद्

तै० उ० - तैत्तिरीयोपनिषद्

मु० उ० - मुण्डकोपनिषद्

ऐ० उ० - ऐतरेयोपनिषद्

ऋ० सं० - ऋग्वेद संहिता

क० उ० - कठोपनिषद्

यो० सू० - योगसूत्र

ई० उ० - ईशावास्योपनिषद्

अनु० - अनुव्याख्यान

क० सू० - कणादसूत्र

प्रथम अध्याय

-0-

जयतीर्थ का व्यक्तित्व और कृतित्व

प्रथम अध्याय

-0-

जयतीर्थ का व्यक्तित्व और कृतित्व

माध्वाचार्य

वेदान्त दर्शन में द्वैत सिद्धान्त का पुष्ट प्रवर्तन श्रीमन्मध्वाचार्य के समय से हुआ। इसके पूर्व आचार्य शङ्कर के अद्वैत मत का बहुत अधिक प्रसार रहा। आचार्य रामानुज का विशिष्टाद्वैत तथा निम्बार्क-वेदान्त भी माध्व-वेदान्त के पूर्व ही प्रवर्तित हो चुके थे।

श्रीमध्वाचार्य जी के जन्म-समय का स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। भण्डारकर महोदय ने विभिन्न मठों से प्राप्त सूचियों के आधार पर मध्वाचार्य का काल १०४०-११२० शक संवत् निर्धारित किया है। महाभारत तात्पर्य निर्णय के एक सन्दर्भ के अनुसार उनका जन्म समय ११९९ ई० पारम्परिक रूप से माना जाता है। उक्त दोनों ही तिथियों की मान्यता नरहरितीर्थ के अभिलेख प्राप्त हो जाने से समाप्त हो चुकी है। इस अभिलेख में शक १२०३ संवत् प्राप्त होता है। श्री नरहरितीर्थ मध्वाचार्य के साक्षात् शिष्य और पीठ के उत्तराधिकारी थे। इस अभिलेख साक्ष्य से ज्ञात होता है कि नरहरि तीर्थ १२६४ से १२९३ ई० के मध्य कलिङ्ग में थे। यह भी ज्ञात होता है कि वे १२८१ से १२९३ ई० के बीच राजप्रतिनिधि भी थे। महाभारत तात्पर्यनिर्णय के उल्लेख को सही माना जाय तो मध्वाचार्य जी का अन्तिम समय १२७८ ई० प्राप्त होता है क्योंकि परम्परा के अनुसार उन्होंने ७९ वर्ष की आयु प्राप्त की[1]। मठ सूचियों के प्रमाण के आधार पर मध्वाचार्य के उत्तराधिकारी पद्मनाभतीर्थ थे, जो ७ वर्षों तक पीठ पर रहे। इसके पश्चात् नरहरितीर्थ ९ वर्षों तक उत्तराधिकारी रहे। इस प्रकार नरहरितीर्थ १२८५ ई० में पीठ पर आये होंगे। किन्तु अभिलेख साक्ष्य से सिद्ध है कि वे १२८९ ई०, १२९१ ई० और १२९३ ई० में भी कलिङ्ग में थे। इन तिथियों से स्पष्ट होता है कि वे १२९३ तक पीठ पर नहीं आये होंगे। नरहरितीर्थ के काल की

---

१. अणुमध्वचरित - हृषीकेशतीर्थ

उल्लिखित वर्षों की गणना के आधार पर हमें मध्वाचार्य का देहपातकाल १३१७ ई० (पिङ्गलवत्सर) निश्चित होता है और उनका जन्म वर्ष १२३८ ई (विलम्बिवत्सर) प्राप्त होता है ।

मध्वाचार्य जी का जन्म उडिपी से दक्षिणपूर्व ८ मील दूर पजाक-क्षेत्र नामक एक छोटे से गांव में हुआ था । वे अति कुशाग्रबुद्धि थे । पञ्चम वर्ष में ही उनके पिता मध्यगेह ने उन्हें संस्कृत की शिक्षा देनी प्रारम्भ कर दी थी । आठवें वर्ष में उपनयन के पश्चात् उन्हें वैदिक पाठशाला में भेज दिया गया। थोड़े ही समय के पश्चात् उन्होंने संन्यास ले लिया । उन्होंने वेदान्त, न्याय, व्याकरण आदि का गहन अध्ययन किया ।

उन्हें शंकर का अद्वैत वेदान्त, जो उस समय तक पर्याप्त रूप से व्यापक हो चुका था, उचित नहीं जान पड़ा; हालांकि उनके पिता मध्यगेह एवं गुरु अच्युतप्रेक्ष स्वयं भी शंकर के अनुयायी थे । शंकर का अद्वैतवाद उन्हें परिवर्तित नाम वाला शून्यवाद ही जान पड़ा । उन्होंने विचार किया कि जगत् को असत्य और जीव की ब्रह्म के साथ एकात्मता मानना धर्म और नैतिकता को ठुकराना है ।

संन्यास लेकर उन्होंने गुरु अच्युतप्रेक्ष के समीप अद्वैत-वेदान्त का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया । इष्टसिद्धि के अध्ययन करते समय ही उन्होंने युक्तियुक्त शङ्काओं को उठाकर उन्हें चकित कर दिया । गुरु अच्युतप्रेक्ष ने उन्हें आनन्दतीर्थ और पूर्णप्रज्ञ[१] नाम देकर मठाधीश नियुक्त कर दिया और शिष्यों को पढ़ाने का कार्य भी उन्हें ही सौंप दिया । कुछ समय पश्चात् वे दक्षिण की यात्रा पर निकले । रामेश्वरम् में उनका प्रथम शास्त्रार्थ शृङ्गेरीमठ के स्वामी

---

१. नारायण भट्ट की `मध्वविजय` में मध्वाचार्य जी के नाम पूर्णप्रज्ञ, आनन्दतीर्थ, नन्दितीर्थ और वासुदेव उल्लिखित हैं ।

विद्याशंकर से हुआ । यह शास्त्रार्थ किञ्चित् क्रोधपूर्ण वातावरण में समाप्त हुआ किन्तु कोई पक्ष दूसरे की बात मानने को तैयार नहीं हुआ ।

कुछ समय पश्चात् मध्वाचार्य जी ने अपना प्रथम ग्रन्थ `गीता-भाष्य` लिखा । कालान्तर में उन्होंने हिमालय की यात्रा की और वहाँ कुछ समय बिताया । वहीं पर उन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखा । वहाँ से लौटते हुए उन्होंने आन्ध्रप्रदेश के प्रसिद्ध पण्डित शोभनाथ शास्त्री और शर्मा शास्त्री, जो शंकर के अनुयायी थे, को परास्त कर अपना शिष्य बनाया और उनके नाम क्रमशः पद्मनाभतीर्थ और नरहरितीर्थ रखे । एक बार पुण्डरीक नामक एक पण्डित ने शास्त्रार्थ में मध्वाचार्य जी से पराजित होकर ईर्ष्यावश उनकी सभी पुस्तकें चुरालीं, जो स्थानीय राजा के प्रयत्नों से उन्हें पुनः प्राप्त हो गयीं । विष्णुमङ्गल के प्रसिद्ध पण्डित त्रिविक्रम पण्डिताचार्य से १५ दिन तक मध्वाचार्य का शास्त्रार्थ हुआ । अन्ततः वे भी मध्वाचार्य के शिष्य बन गये । इन्होंने मध्वाचार्य के सूत्रभाष्य पर तत्त्वप्रदीप नामक टीका लिखी । इन्हीं के विशेष आग्रह पर मध्वाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर `अनुव्याख्यान` नामक एक अन्य भाष्य छन्दों में लिखा । `अनुव्याख्यान` उनका सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ माना जाता है । इसी पर श्री जयतीर्थ ने `न्यायसुधा` नामकी प्रसिद्ध टीका लिखी । मध्वाचार्य ने ब्रह्मसूत्रों पर `न्याय-विवरण` नामक तृतीय भाष्य भी लिखा । इनके अतिरिक्त उन्होंने `कृष्णामृत महार्णव` और `कर्मनिर्णय` नामक ग्रन्थों का प्रणयन किया । जीवन के ८० वें वर्ष में मध्वाचार्य ने माघ शुक्ल नवमी को ऐतरेयभाष्य पर व्याख्यान करते हुए पाञ्चभौतिक शरीर का परित्याग किया ।

त्रिविक्रम पण्डिताचार्य के पुत्र नारायण पण्डित ने मध्वविजय नामक ग्रन्थ में मध्वाचार्य की सम्पूर्ण जीवनी लिखी है ।

मध्व के पूर्व के आचार्य

नारायण पण्डिताचार्य ने `मणिमञ्जरी` में मध्वाचार्य के

पूर्व १२ आचार्यों का नामोल्लेख किया है जो निम्नवत् है —

१- श्री हंस (नारायण)

२- ब्रह्मा

३- चार सनक

४- दुर्वासा

५- ज्ञाननिधि तीर्थ

६- गरुडवाहन तीर्थ

७- कैवल्य तीर्थ

८- ज्ञानीश तीर्थ

९- परतीर्थ

१०- सत्यप्रज्ञतीर्थ

११- प्रज्ञतीर्थ

. . . लगभग ४०० वर्षों का अन्तराल

१२- अच्युतप्रेक्ष (पुरुषोत्तम तीर्थ)

१३- आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य)

प्राज्ञतीर्थ और अच्युतप्रेक्ष के बीच लगभग ४०० वर्षों का काल इस सन्दर्भ में अज्ञात है। इस काल में होने वाले आचार्यों का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में अद्वैतमत का अधिक प्रभाव होने के कारण इस सम्प्रदाय के आचार्य उस प्रभाव में आकर द्वैत परम्परा को हेय समझने लगे थे, क्योंकि मध्वाचार्य जी के गुरु अच्युतप्रेक्ष भी इनके प्रभाव में आने से पूर्व अद्वैत-मत के अनुयायी थे, और उन्होंने मध्वाचार्य को सर्वप्रथम अद्वैतवेदान्त के ग्रन्थ, विमुक्तानन्द रचित `इष्टसिद्धि` का अध्ययन प्रारम्भ करवाया।

इस प्रकार निःसन्देह द्वैतपरम्परा का मूल श्रीमद्भागवतादि शास्त्र हैं, जिनके सिद्धान्तों को मध्वाचार्य ने पुष्ट किया। मध्वाचार्य ने अपनी

कृतियों में बादरायण व्यास को ही गुरु कहकर प्रणाम किया है[१]। अच्युतप्रेक्ष का नामोल्लेख भी उन्होंने नहीं किया, क्योंकि अच्युतप्रेक्ष स्वयं उनसे प्रभावित होकर द्वैतमत के समर्थक बने थे। इस प्रकार द्वैतमत सुव्यवस्थित रूप में मध्वाचार्य के समय से ही प्रस्तुत हुआ।

मध्वाचार्य की कृतियां

श्री मध्वाचार्य की कुल ३७ कृतियां हैं, जिनमें से १८ ग्रन्थों पर श्री जयतीर्थ ने टीकाएं लिखी हैं। उनकी कृतियों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है —

(१) प्रस्थानत्रय (गीता, ब्रह्मसूत्र और दस उपनिषद्) पर टीकाएं

(२) दशप्रकरण

(i) विष्णुतत्त्व विनिर्णय:

(ii) तत्त्वोद्योत:

(iii) कर्म-निर्णय:

(iv) उपाधिखण्डनम्

(v) मिथ्यात्वानुमानखण्डनम्

(vi) मायावादखण्डनम्

(vii) कथा-लक्षणम्

(viii) प्रमाण-लक्षणम्

(ix) तत्त्वसंख्यानम्

(x) तत्त्वविवेक:

इनमें विष्णु-तत्त्वविनिर्णय और तत्त्वोद्योत द्वैतसिद्धान्त

---

१. 'तस्यैव शिष्यो बादेक मतु:' (महाभारत तात्पर्य निर्णय)

के उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं, कर्मनिर्णय में कर्मकाण्ड की आध्यात्मिक व्याख्या की गयी है। शेष लघुकृतियाँ हैं जिनमें अद्वैतमत का खण्डन और द्वैत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

(३) श्रीमद्भागवतपुराण और महाभारत पर टीकाएँ एवं ऋग्वेद के प्रथम तीन अध्यायों की आध्यात्मिक व्याख्या।

(४) लघुकृतियाँ, जिनमें द्वादशस्तोत्र और कृष्णामृतमहार्णव हैं।

केवल ब्रह्मसूत्रों पर ही उन्होंने तीन भाष्य लिखे, जिनमें प्रथम 'पूर्णप्रज्ञभाष्य' है, जो गद्य में है; दूसरा 'अणुभाष्य' जो केवल ३४ श्लोकों में है एवं अत्यन्त सारगर्भित है और तीसरा है— 'अनुव्याख्यान'। यह सर्वोत्तम कृति है, इसी पर जयतीर्थ की टीका 'न्यायसुधा' है। 'अनुव्याख्यान' को मध्वाचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य की स्पष्टता के लिए लिखा है[१]। शंकर की व्याख्या का खण्डन करने के साथ ही इन्होंने अद्वैत वेदान्त के कुछ मूल-सिद्धान्तों का खण्डन किया है, वे हैं—

(१) जीव और ब्रह्म का ऐक्य
(२) अनिर्वचनीयता का सिद्धान्त
(३) भ्रम का अद्वैत सिद्धान्त
(४) जगत् का मिथ्यात्व
(५) भेद-मिथ्यात्व
(६) प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अविश्वसनीयता

मध्वाचार्य की शिष्य परम्परा तथा टीकाकार

पद्मनाभ

मध्वाचार्य के पश्चात् द्वैत वेदान्त की परम्परा में पद्मनाभ

---

१. स्वयं कृतापि तद्व्याख्या क्रियते स्पष्टार्थतः (अनुव्याख्यान)।

तीर्थ का नाम आता है । `[illegible]` और मठ सूचियों के आधार पर उनका उत्तराधिकार काल १३१८ ई० से १३२४ ई० प्राप्त होता है । ये कनाड के गोदावरी के तट के किसी ग्राम के निवासी थे ।[१] किन्तु हृषीकेश तीर्थ और गुरुचर्या इन्हें नि:सन्देह उत्तर-कर्नाटक का निवासी बताते हैं ।[२] इनका प्रारम्भिक नाम शोभनाथ था । ये वेदों, पुराणों और तर्कशास्त्र के पण्डित थे । ये मध्वाचार्य जी से शास्त्रार्थ में पराजित होकर उनके शिष्य बन गये । ये सात वर्षों तक प्रधान पीठ के अधिपति रहे ।

पद्मनाभ की कृतियाँ

पद्मनाभ की लगभग १५ कृतियाँ मानी जाती हैं, किन्तु उनमें से कुछ ही अभी तक प्रकाशित हुई हैं । इन्होंने सर्वप्रथम मध्वाचार्य जी के `दश-प्रकरण`, `ब्रह्मसूत्रभाष्य`, `अनुव्याख्यान`, और `गीताभाष्य` पर टीकाएं लिखीं। जयतीर्थ ने पद्मनाभ को द्वैत परम्परा का महान् टीकाकार माना है ।[३] मध्वाचार्य के `तत्त्वसंख्यान`, `तत्त्वविवेक `, और `कर्मनिर्णय` पर इनकी टीकाएं उपलब्ध नहीं हैं ।

मध्वाचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्य पर इनकी टीका `सत्तर्कदीपावली` नाम से प्रसिद्ध है । अनुव्याख्यान पर इनकी टीका `सन्न्यायरत्नावली ` और गीताभाष्य पर `गीताभाष्यभावदीपिका` है । गीता पर एक अन्य टीका `गीता-तात्पर्यनिर्णयप्रकाशिका ` अधिक प्रसिद्ध है ।

----

१. यो गोदाया उपाश्रयो (मध्व विजय)

२. य: कर्नाटक-पूर्वसज्जनगुरु: श्रीपद्मनामाह्वय: (हृषीकेशतीर्थ)
   कर्नाटकोत्तरादेशि पद्मनाभमुनिरसौ (गुरुचर्या)

३. स पद्मनाभतीर्थाख्यो गोगणोऽस्तु दृशे मम ।
   न तत्त्वमार्ग-सर्गे गमनं विना यदुपजीवनम् ।। (गीतान्यायदीपिका)

नरहरितीर्थ (१३२४-३३ ई०)

पद्मनाभ के बाद टीकाकार के रूप में नरहरितीर्थ का नाम आता है। वे मध्वाचार्य के शिष्य थे। उनकी भी १५ से अधिक कृतियां मानी जाती हैं, जिनमें से इस समय केवल दो ही प्राप्त हैं : (१) `कर्म-निर्णय` पर टीका और (२) गीता पर भावप्रकाशिका नाम की टीका।

माधवतीर्थ (१३३३-५० ई०)

नरहरितीर्थ के उत्तराधिकारी माधवतीर्थ हुए। ये दक्षिण कर्नाटक के निवासी थे। इनकी कोई कृति उपलब्ध या ज्ञात नहीं है।

अक्षोभ्यतीर्थ (१३५०-६५ ई०)

माधवतीर्थ के उत्तराधिकारी अक्षोभ्यतीर्थ उत्तरकर्नाटक के निवासी थे। ये महान् अद्वैतमतावलम्बी विद्वान् विद्यारण्य के समकालीन थे। यद्यपि इनकी कोई लिखित कृति नहीं है किन्तु परम्परानुसार इन्होंने तत्त्वमसि पर हुए शास्त्रार्थ में विद्यारण्य को परास्त किया था[१]। जयतीर्थ के निम्न उल्लेख से भी इनकी विजय सूचित होती है --

`दुर्वादिवारण-विदारणदक्षदीक्षमक्षोभ्यतीर्थमृगराजमहं नमामि।`

जयतीर्थ

अक्षोभ्यतीर्थ के बाद उनके शिष्य जयतीर्थ इस सम्प्रदाय के

---

१. असिना तत्त्वमसिना परजीवप्रभेदिना।
विद्यारण्यमहारण्यमक्षोभ्यमुनिरच्छिनत् ।।
(वेदान्तदेशिक, वैभवप्रकाशिका)

उत्तराधिकारी हुए। जयतीर्थ के काल में द्वैत वेदान्त को पूर्ण सुव्यवस्थित रूप प्राप्त हुआ। उस समय तक यद्यपि माध्व वेदान्त अपने पुष्ट रूप में प्रस्तुत हो चुका था किन्तु उसमें नवीन तार्किक शैली का समावेश नहीं था। जयतीर्थ ने तत्कालीन तार्किक शैली के आधार पर द्वैतवेदान्त के विचारों को निर्णीत रूप प्रदान किया। इन्होंने इस सिद्धान्त के अभिमत पदार्थों की विशुद्ध परिभाषाएं प्रस्तुत की और मध्वाचार्य के द्वारा अनुल्लिखित परिभाषाएं भी दीं। अद्वैत वेदान्त में जो कार्य वाचस्पति मिश्र और चित्सुख ने किया, वैसा कार्य इन्होंने द्वैतवेदान्त में अकेले किया[1]

इन्होंने मध्वाचार्य की ३७ कृतियों में से तार्किक एवं दार्शनिक रुचिवाली कृतियों को ही टीका के लिये चुना। ये सभी दर्शनों के पण्डित थे, अत: इन्होंने यथास्थान बड़े ही तार्किक ढंग से स्वविरोधी मतों का खण्डन किया है। द्वैतवेदान्त में इनके अद्वितीय योगदान से प्रभावित होकर मध्वानुयायियों ने इन्हें सम्मानपूर्वक 'टीकाचार्य' की उपाधि प्रदान की[2]। उनकी गणना द्वैतवेदान्त के मुनित्रय[3] में की जाती है। उनके ही शब्दों में व्याख्या के स्पष्टीकरण के निम्न

---

1. In the history of dvaita vedanta he might therefore be said to have played the combined role of Vacaspati and Citsukha in Advaita with a thoroughness, ability and erudition equalling there in Advaita and other systems.

   (Dr. B.N. K. Sharma - A History of ~~ad~~ dvaita school of vedant~~s~~ and its literature)

२. गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्री जयतीर्थवाक् (न्यायामृत - व्यासराय)

३. श्रीमध्व: कल्पवृक्षस्तु जयार्य: कामधुक्स्मृत: ।
   चिन्तामणिस्तु व्यासार्यो मुनित्रयमुदाहृतम् ॥

प्रमुख बिन्दु हैं —

स्पष्टीकरणं चानेकविधम् — (१) क्वचिद्नुक्तांशस्योक्तिः (२) क्वापि अतिविदिप्तस्योपपादनम्, (३) क्वचिद् विस्तृतया बुद्ध्यनारूढस्य संक्षेपः, (४) क्वापि क्लिष्टस्य सुगमीकरणम्, (५) क्वाप्युक्तस्योपपादनम्, (६) क्वचिदपव्याख्यान-निराकरणेन दृढीकरणम् ।[1]

इन सभी विधाओं पर जयतीर्थ ने बड़ी सफलतापूर्वक लेखनी चलायी है । उदाहरणार्थ 'महाभारत तात्पर्यनिर्णय' में मध्वाचार्य की भक्ति की परिभाषा को उन्होंने निम्नस्वरूप दिया है —

'परमेश्वरभक्तिर्नाम निरवधिकानन्तानवद्यकल्याणगुणत्वज्ञान-पूर्वकः स्वात्मात्मीय समस्तवस्तुभ्योऽप्यनन्तगुणाधिकोऽन्तराय सहस्रेणाप्यप्रतिबद्धो निरन्तरप्रेमप्रवाहः ।'[2]

आचार्य मध्व के अनुसार मुक्ति का परमसाधन भगवत्प्रसाद ही है । अतः जहाँ उन्होंने ज्ञान से भक्ति का प्रतिपादन किया है उन स्थलों का कितना व्यवस्थित स्पष्टीकरण जयतीर्थ ने अल्प-शब्दों में प्रस्तुत किया है—

'अस्मिन् शास्त्रे यत्र यत्र ज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वमुच्यते, तत्र तत्र ज्ञानमिति पदेन भक्तिरीर्यते लक्ष्यते । कुतः ? सम्बन्धात्, ज्ञानस्य भक्तिभागत्वात्। माहात्म्यज्ञानस्नेहसमुदायो हि भक्तिरित्युक्तम् । ततो ज्ञानं भक्तेर्भाग एकदेशः ।'[3]

उन्होंने ही सर्वप्रथम अन्य दार्शनिक मतों के ख्यातिवादों के सापेक्ष मध्वाचार्य के ख्यातिवाद की पूर्ण व्याख्या की और उसे अभिनवान्यथा

---

१. न्या० सु०, पृ०८

२. वही, पृ० १७, महाभारत ता० नि० १। ८६

३. न्या० सु०, पृ० ६०४

ख्याति' का नाम दिया। इसी प्रकार निम्बार्क और रामानुज के भ्रम के सिद्धान्त के सहित न्यायसुधा में विस्तृत खण्डन किया गया है[1]।

अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का खण्डन करते समय उन्होंने इसके वाचस्पति, विवरणकार, आनन्द, चित्सुख और विज्ञानघन जैसे प्रमुख टीकाकारों के विचारों का भी विवेचन किया है। शंकर के सूत्र भाष्य की आलोचना करते समय उन्होंने शंकर के भाष्य,[2] और वाचस्पति, प्रकाशात्मा और संक्षेप शारीरिक के वाक्यों को प्रायः उद्धृत किया है। अद्वैत-वेदान्त के शब्दापरोक्ष, जीवन्मुक्ति और बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव, जिनका मध्वाचार्य ने विवेचन नहीं किया, पर जयतीर्थ ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

जयतीर्थ की भाषा स्पष्ट और शैली उत्कृष्ट कोटि की है[3]। वादरत्नावलीकार ने उनकी प्रशंसा में कहा है —

> नो ते जडतां न मङ्गमयते नीचस्थलं नेक्षते
> स्खालित्यं न च याति नैति कृशतां दाीर्घं क्वचिन्नाञ्चते।
> मानं नोज्झति नो जहाति च पदं व्यर्थं न कौकूयते
> कल्येयं जयतीर्थ कोविदवचः कल्लोलिनी सेव्यताम्[4] ॥

---

१. न्या० सु०, पृ० (४०-५७)

२. वही, पृ० १६०,२६५,५६०,६५३

३. He was a master of graceful style, rich in vocabulary chaste and polished in his expression.

(A History of Dvaita school of Vedanta and its literature).

४. वादरत्नावली, परिच्छेद २

यद्यपि जयतीर्थ ने प्राय: सभी विरोधी सिद्धान्तों का खण्डन किया है, किन्तु समुचित मतों का यथा-स्थान समादर भी किया है[1], तथा अनुपयुक्त होने पर अपने सम्प्रदाय के नरहरि और पद्मनाभ जैसे आचार्यों के व्याख्यानों से भी मतभेद प्रकट किया है। शंकर की `अथ` की व्याख्या भी उन्होंने स्वीकृत की है[2]।

जयतीर्थ का जीवन

जयतीर्थ के जीवन के विषय में हमें व्यासतीर्थ, जो स्वयं जयतीर्थ के शिष्य थे, की लिखी अणुजयतीर्थविजय एवं बृहज्जयतीर्थ विजय प्राप्त हैं। १७०० ई० की इलारि संकर्षणाचार्य द्वारा लिखित एक अन्य जीवनी भी प्राप्त है। इनके अतिरिक्त जयतीर्थ के जीवन के विषय में कोई अन्य स्रोत नहीं है। प्राप्त स्रोतों से ज्ञात होता है कि उनका प्रारम्भिक नाम धोण्डोपन्त रघुनाथ था[3]। उनका गोत्र कुछ लोग वैश्वामित्र तथा कुछ लोग भारद्वाज मानते हैं। `सत्कथा` के अनुसार उनका जन्मस्थान पण्ढरपुर से लगभग १२ मील दूर मङ्गलवेध नामक ग्राम था। `गुरुचर्या` के अनुसार उनका स्थान वृष्टिखेट था, जो कन्नड के `मालखेड` शब्द का संस्कृत रूपान्तर है। मालखेड शब्द भी संस्कृत के मान्यखेट का तद्भव रूप है। मान्यखेट इतिहास प्रसिद्ध-राष्ट्रकूटों की राजधानी थी। मालखेड को उनका स्थान मानने पर वे उत्तरकर्नाटक के निवासी सिद्ध होते हैं। गुरुचर्या के अनुसार अक्षोभ्यतीर्थ से उनका प्रथम साक्षात्कार भी कागिनी नदी के तट पर मालखेड में ही हुआ था[4]। मालखेड में उनका स्मारक भी

---

१. आप्तेरादिमत्त्वाद् वा इत्यादि,ओंकारस्य नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभावम्. ..
इति ब्रह्मशब्दस्य व्याख्यानं तन्न व्याख्यानान्तरं दूषितम्,अनुमतं च ।
(आनन्दगिरि की ओम् की व्याख्या पर टीका न्या० सु०,पृ० १४)

२. वही, पृ० ५२६

३. वृष्टिखेटाधिपो धोण्डो रघुनाथाभिध: प्रभु: ।
तुरङ्ग गलोपेतो मृगया प्रचरन् वने ।। (गुरुचर्या-व्यासतीर्थ)

४. स चरित्वाथ मध्याह्ने तृषार्त: कागिनीं गत: ।
अर्पिवत् तथो दृष्ट्वा स्मृत्वा .... गिरस्तदा ।। (गुरुचर्या काण्ड १)

इसी पक्ष का समर्थक है । किन्तु उनका नाम धोण्डोपन्त उन्हें महाराष्ट्रिय सूचित करता है । अत: उनके जन्म-स्थान का प्रश्न अनिर्णीत ही है ।

सत्कथा के अनुसार जयतीर्थ का जन्म एक अत्यन्त समृद्ध परिवार में हुआ था । इनके पिता 'देशपाण्डे' उपनामधारी एवं एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। जयतीर्थ प्रारम्भ में एक अच्छे खिलाड़ी तथा घुड़सवार थे । इनकी दो पत्नियां थीं।[1] बीस वर्ष की अवस्था में उनके जीवन में नया मोड़ आया जिसने भारतीय दर्शन में यथार्थवाद का प्रपुष्ट रूप रखा । युवक धोण्डो रघुनाथ घोड़े पर सवार होकर घूमते हुए एक ग्रीष्म की दोपहर में पानी पीने के लिए चन्द्रभागा नदी में गये । वहीं इनका साक्षात्कार अक्षोभ्यतीर्थ से हुआ। ये अक्षोभ्यतीर्थ से इतने प्रभावित हुए कि उसी समय उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया । यद्यपि इनके पिता इन्हें एक बार पुन: घर ले गये किन्तु पारिवारिक जीवन का आकर्षण इनके निश्चय को परिवर्तित नहीं कर सका । भगवान विष्णु की स्तुति में न्यायसुधा में उनके उच्च आदर्श अभिव्यक्त हैं —

कुपिताहिफणाच्छाया समीकृत्यापरं सुखम् ।
सेवन्ते यत्पदं धीरास्तं भजे वल्लभं श्रियः ॥[2]

अन्तत: उन्हें परिवार की ओर से भी सन्यास लेने की अनुमति मिल गयी । सन्यास लेकर 'जयतीर्थ' नाम धारण करके वे अक्षोभ्यतीर्थ के पास शास्त्रों का अध्ययन करने लगे[3] । जयतीर्थ-विजय के अनुसार अक्षोभ्यतीर्थ विद्यारण्य के समकालीन थे तथा जयतीर्थ का भी विद्यारण्य से साक्षात्कार हुआ था ।

---

१. कान्तायुग्मे कमलवदने सैव लोके विरक्तिः । (जयतीर्थ विजय II-२२)

२. न्या० सु० ३ ।१

३. अक्षोभ्यतीर्थगुरुणा शुकवच्छिक्षितस्य मे

(गीताभाष्य प्रमेय-दीपिका - जयतीर्थ)

कृतित्व

जयतीर्थ की लगभग २२ कृतियां मानी जाती हैं जिनमें प्राय: सभी प्रकाशित हो चुकी हैं। वे निम्नवत् हैं —

मध्वाचार्य के दशप्रकरणों पर लिखी टीकाएं —

(१) तत्त्वसंख्यान-टीका - यह २०० ग्रन्थों[१] में एक लघु व्याख्या है। इसमें तत्त्व की परिभाषा दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जिसके अनुसार `तत्त्व-मनारोपितं प्रमिति विषय इति`। इसी प्रकार यथार्थ वस्तु का स्वतन्त्र और परतन्त्र में विभाजन का औचित्य भी बड़ा महत्वपूर्ण है।

(२) तत्त्वविवेक - यह १६० ग्रन्थों की एक लघु कृति है, जिसका विषय तत्त्वसंख्यान टीका जैसा ही है।

(३) तत्त्वोद्योत-टीका - यह ८५०० ग्रन्थों में है। यह जयतीर्थ की लघुकृतियों में सर्वोत्कृष्ट कोटि की है। इसमें `तत्त्वमसि` की द्वैतपरक व्याख्या का सुन्दर स्पष्टीकरण है।

(४) विष्णुतत्त्वनिर्णय-टीका - यह प्रकरणों पर लिखी गयी सबसे बड़ी कृति है, जो ५१२० ग्रन्थों में है। इसमें चित्सुख की तत्त्वप्रदीपिका के उद्धरण दिये गये हैं[2]। भेद की आलोचना का समुचित उत्तर देते हुए अद्वैतमत का तर्कपूर्ण खण्डन किया गया है।

(५) मायावाद-खण्डन-टीका - यह १७५ ग्रन्थों में लिखित एक लघु कृति है। इसमें जयतीर्थ ने श्रीहर्ष[२] और आनन्दबोध[3] के वाक्यों को उद्धृत किया है।

---

१. ३२ मात्राओं के छन्द को ग्रन्थ कहा जाता है।

२. तत्त्वाद्वैतं—`ब्रह्मैवेदं सर्वम्` इति श्रुत्यर्थेन सर्वैक्यमापन्नं ब्रह्मैव स्यात्

३. न सन्नासन्न सदसन्नानिर्वाच्योऽपि तत्क्षय: । (खण्डनखण्डखाद्य)
यदानुरूपो बलिरित्याचार्या: प्रत्यपीपदन् ॥ (आनन्दबोध)

(६) प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानखण्डन-टीका - यह २०५ ग्रन्थों की कृति है। इसमें प्रारम्भ में ही जगत् के मिथ्यात्व को अमान्य प्रतिपादित किया है। इसमें यह तर्क दिया गया है कि यदि दृश्य जगत् को यथार्थ नहीं स्वीकृत किया जाता, तो ब्रह्मसूत्र में दिया गया ब्रह्म का लक्षण 'जन्माद्यस्य यतः' असंगत होगा।

(७) उपाधिखण्डन-टीका - उपाधिखण्डन पर उनकी टीका तत्त्वप्रकाशिका नाम से प्रसिद्ध है। इसमें बताया गया है कि अज्ञान कभी ब्रह्म को आवृत नहीं कर सकता है, अविद्या के दुर्घटत्व की शरण लेना अविचारपूर्ण है।

(८) प्रमाणलक्षण-टीका - इसका नाम न्यायकल्पलता भी है। यह २४५० ग्रन्थों की कृति है।

(९) कथालक्षण-टीका - यह ३५४ ग्रन्थों में है, इसमें कथा का महत्त्वपूर्ण विवेचन किया गया है। इसमें कथा के सम्बन्ध में तीन विभिन्न मतों का उल्लेख किया गया है -

- (i) एक एव कथा इति बाह्याः
- (ii) वाद वितण्डे द्वे एवेति श्रीहर्षः
- (iii) वादो, जल्पो, वादवितण्डा, जल्पवितण्डा चेति चतस्रः कथा इति गौडनैयायिकाः।

(१०) कर्मनिर्णय-टीका - यह ६२० ग्रन्थों में है। इसमें लेखक ने तीन स्थानों पर नरहरितीर्थ की व्याख्या की आलोचना की है।

स्वप्रस्थान

अणुभाष्य के अतिरिक्त मध्व की सभी कृतियों पर जयतीर्थ

ने टीकाएं लिखी हैं। इन सम्पूर्ण कृतियों में `अनुव्याख्यान` की टीका `न्यायसुधा` सर्वोत्कृष्ट है। मैसूर ओरियण्टल लाइब्रेरी (२२०७ नागरी)के कैटलाग में उनकी अणुभाष्य-टीका का भी उल्लेख है, किन्तु इस टीका के प्रारम्भिक श्लोक[1] से स्पष्ट है कि यह उनके बाद के किसी लेखक की कृति है।

(११) तत्त्वप्रकाशिका -

ब्रह्मसूत्र भाष्य की टीकाओं में यह अतीव प्रसिद्ध एवं व्यापक रूप से अध्ययन की जाने वाली है। यह लगभग ८००० ग्रन्थों में है। लेखक ने इसमें उन सिद्धान्तों का विशेष विवेचन नहीं किया जिनका विशद विवेचन `तत्त्वोद्योत` में कर दिया गया है एवं सूत्रों के द्वैतमतविरोधी भाष्यों का खण्डन भी न्यायसुधा में करने के लिये छोड़ दिया है किन्तु सन्दर्भ प्राप्त होने पर[2] कहीं-कहीं शंकराचार्य के भाष्य का खण्डन किया है। इसे कम से कम ११ टीकाओं का गौरव प्राप्त है।

(१२) न्यायसुधा -

यह एक अत्यन्त उत्कृष्ट अविज्ञेय वाङ्मय तथा अनुव्याख्यान पर एक समुज्ज्वल टीका है। मध्व के अनुयायियों में यह संक्षिप्त नाम `सुधा`[3] के रूप में प्रसिद्ध है। इसके विषय में उक्ति है, `सुधा वा पठनीया वसुधा वा पालनीया`, जो इसके प्रति विद्वानों के सम्मान को प्रदर्शित करती है। इसका मूल नाम सम्भवत: `विषम पद वाक्यार्थ विवृति` है,जैसा कि इसमें उल्लेख है[4]; यद्यपि अन्तिम अध्याय के अन्त के पूर्व छन्द में इसे

---

१. प्रणम्य नृहरिं मध्वमुनिं जयमुनिं तथा।
   विवृतिं ह्यणुभाष्यस्य करिष्यामि यथामति ॥

२. तत्त्वप्रकाशिका टीका - ब्र० सू० १।१।३, १।२।१२

३. `सुधानामधिकरणपञ्चकं समाप्तम्` - न्यायसुधा, पृ० १२१

४. `प्रगुणजयतीर्थाख्यकृतिना
   कृतायां टीकायां विषमपदवाक्यार्थ विवृतौ ॥
   - न्या० सु०

'न्यायसुधा ' नाम से भी अभिहित किया गया है[1]। यह २४००० ग्रन्थों में है। इस कृति में जयतीर्थ ने शंकराचार्य, भास्कर, रामानुज और यादवप्रकाश के भाष्यों और उनकी टीकाओं में वाचस्पति, पद्मनाभ, प्रकाशात्मा और आनन्द के अतिरिक्त सांख्य तत्त्वकौमुदी, तत्त्वबिन्दु, न्याय-कुसुमाञ्जलि, खण्डनखण्डखाद्य, विस्तुति, नानननीहरकार, न्यायलीलावती, गङ्गेशोपाध्याय, ऐतरेय सुरेश, मुक्तावली, श्रीधर (न्याय-कन्दली), प्रशस्तपाद, न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका, और व्योमशिवाचार्य के वाक्यों को उद्धृत किया है और यथास्थान उनका खण्डन किया है। मीमांसा दर्शन के भट्ट और प्रभाकर के मतों न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, बौद्ध, जैन, पाशुपत और शाक्त सिद्धान्तों का भी न्यायसुधा में विशद विवेचन और सतर्क खण्डन किया गया है। इसमें यत्र तत्र एक ही वाक्य से विभिन्न पूर्व पक्षों का खण्डन किया गया है।

न्यायसुधा में लेखक का सम्पूर्ण शास्त्रों का पाण्डित्य झलकता है। अनुव्याख्यान में 'विष्णावि' जैसे अपाणिनीय प्रयोगों की साधुता तथा ब्रह्मसूत्रभाष्यों के महत्वपूर्ण स्थलों की व्याख्या उनके विषयवस्तु के गहन ज्ञान की परिचायिका है। अध्यात्म, मनोविज्ञान और ज्ञान के सिद्धान्त पर उनके विवेचन और तर्क शक्ति का परिचय मिलता है, यह ख्यातिवाद, साक्षी का सिद्धान्त, भेद, और विशेष पर उनके महत्वपूर्ण व्याख्यानों से स्पष्ट है।

(१३) न्याय-विवरण-टीका -

यह अनुव्याख्यान के प्रथम अध्याय के प्रथम दो पादों पर अपूर्ण टीका है जो बाद में १६ वीं शताब्दी में रघूत्तम तीर्थ के द्वारा पूर्ण की गयी। ये दोनों ही उडुपी से प्रकाशित है।

---

१. 'इयं न्यायसुधा धीमैर्विबुधैः सेव्यतां सदा।'

उपनिषद्-भाष्य-टीकाएं

(१४) प्रश्नोपनिषद्-भाष्य-टीका - यह ५०० ग्रन्थों की कृति है। इसमें जयतीर्थ ने प्रतीकों के साथ भाष्य योजना के अतिरिक्त मूल उपनिषद् की अक्षर योजना भी दी है।

(१५) ईशोपनिषद्भाष्य-टीका - यह ४०० ग्रन्थों में एक लघुकाय टीका है, जो कलारि नृसिंहाचार्य की टिप्पणी के साथ १९२९ में कुम्भकोणम् से प्रकाशित हुई है। इसमें मूल उपनिषद् की द्वैतवादी तथा विशिष्टाद्वैतवादी व्याख्याओं की अत्यधिक आलोचना की गयी है।

(१६) ऋग्भाष्य-टीका - इसका दूसरा नाम 'सम्बन्धदीपिका' है। यह ३५०० ग्रन्थों में है। इसमें जयतीर्थ ने मध्व द्वारा दिये गये उद्धरणों के अतिरिक्त यास्क जैसे ऋषियों के वाक्यों को भी उद्धृत किया है। इसमें उन्होंने वैदिक शब्दों की व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति का अच्छा विवेचन किया है,जो उनके वैदिक व्याकरण के पाण्डित्य का परिचायक है।

(१७) गीताभाष्यप्रमेय दीपिका - यह ४००० ग्रन्थों की कृति है। इसमें मूल-भाष्य के गूढ़ विचारों की उत्कृष्ट व्याख्या की गयी है। इसमें शंकर और भास्कर की व्याख्याओं की आलोचना की गयी है। इससे भास्कर नामक एक अज्ञात गीता टीकाकार का भी पता चलता है।

(१८) गीता तात्पर्य न्यायदीपिका - यह ३२९७ ग्रन्थों में है। यह किरणावली टिप्पणी के साथ सन् १९०५ में प्रकाशित हुई थी।

जयतीर्थ की मौलिक कृतियाँ

(१६) वादावली - यह वेदान्तवादावली नाम से भी प्रसिद्ध है । यह ५०० ग्रन्थों में लिखित एक स्वतन्त्र खण्डनमण्डनात्मक कृति है । इसमें प्रत्येक विषय सूक्ष्म तर्कों के साथ प्रस्तुत किया गया है ।

`विमतं मिथ्या, दृश्यत्वात्, जडत्वात्, परिच्छिन्नत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्` इस अनुमानवाक्य का बड़ी सूक्ष्मता से विश्लेषण और खण्डन किया गया है । अद्वैत वेदान्त के इन्द्रियज्ञान के आभासत्व का भी खण्डन किया गया है । इसके प्रमुख विषय निम्नलिखित हैं —

१- अविद्या की परिभाषा और उसका खण्डन
२- अविद्या के समर्थन में प्रमाणों का परीक्षण
३- मिथ्यात्व की परिभाषा
४- दृश्यत्व, जडत्व और परिच्छिन्नत्व हेतुओं का खण्डन
५- अयथार्थता के सिद्धान्त से प्रत्यक्ष का विरोध
६- अयथार्थता के सिद्धान्त से श्रुति का विरोध
७- प्रमाण का स्वतः-प्रामाण्य
८- आरोप के सिद्धान्त में दोष
९- स्वाप्न ज्ञान की यथार्थता
१०- सत्यत्व के हेतुओं के प्रतिकूल तर्कों का निराकरण
११- अद्वैतिक मूल प्रकरणों - `नेह नानास्ति`, `एकमेवाद्वितीयम्` आदि की पुनर्व्याख्या ।
१२- भेद के प्रत्यक्षग्राह्यत्व में पूर्वपक्ष और उसका खण्डन
१३- भेद की धर्मिस्वरूपता
१४- विशेष

इसमें चित्सुख की `तत्वप्रदीपिका`, `विवरण`, `न्यायकन्दली` आदि से उद्धरण देकर उनकी आलोचना की गयी है ।

(२०) प्रमाण-पद्धति -

यह ७५० ग्रन्थों में जयतीर्थ की मौलिक कृति है। यह विजयीन्द्र तीर्थ, राघवेन्द्र और वेदेशतीर्थ की टीकाओं सहित आठ टीकाओं के साथ प्रकाशित हो चुकी है। इसमें प्रमाणों का स्वरूप, उनकी व्यापकता और परिभाषाएं, उनकी व्यवहार विधि, सत्य और भ्रम के सिद्धान्त, प्रमाणों का स्वत: या परत: प्रामाण्य आदि विषयों का विवेचन किया गया है। यह-प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन परिच्छेदों में विभक्त है।

जयतीर्थोत्तर परम्परा

विष्णुदासाचार्य—

जयतीर्थ के बाद यद्यपि गुरुपरम्परा में कई आचार्य हुए किन्तु ग्रन्थ रचना की दृष्टि से विष्णुदासाचार्य (१३६०-१४४० ई०) का ही स्थान है, जो शिष्य-परम्परा में जयतीर्थ से चौथे हैं। ये राजेन्द्रतीर्थ के शिष्य थे। इन्होंने जयतीर्थ की वादावली और अन्य कृतियों के विषयों को लेकर तर्कपूर्ण व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। इनका ग्रन्थ 'वादरत्नावली' नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने तत्वमसि इत्यादि वाक्यों की विभिन्न व्याख्याएं की हैं। वादरत्नावली के प्रारम्भ में निम्न प्रकार से उसकी विषयवस्तु का कथन किया है—

विश्वं सत्यं हरि: कर्ता जीवोन्य: परमात्मन: ।
वेद: सत्य: प्रमाणं चेत्येवं व्यासमतस्थिति: ।।

उनके अनुसार भेद एक परमावश्यक तथ्य है जो अद्वैतवादियों को भी स्वीकृत करना पड़ेगा। भेद को स्वीकृत किये बिना ब्रह्म को सम्पूर्ण जड़, अयथार्थ एवं परिच्छिन्न पदार्थों से सर्वथा भिन्न रूप से कैसे कहा जा सकता है ?[१]

---

१. जडानृत परिच्छिन्नव्यावृत्तं ब्रह्म नवा ?
आद्ये तु भेदसिद्धि: स्यादन्त्ये स्याद्व्याहति: श्रुते: ।।
असत: प्रतियोगित्वं समानं तावदावयो: ।
अतोऽपि दु:हत्यजो भेदो नेतिनेति श्रुतेरपि ।। (वादरत्नावली)

उन्होंने ब्रह्माज्ञानवाद और ब्रह्म के निर्गुणत्व का विशद खण्डन किया है । अन्तत: उन्होंने ब्रह्म को गुणों से परिपूर्ण स्वीकृत करते हुए उनमें हेय गुणों को ही निषेध्य बताया है[१] ।

व्यासराय

द्वैत वेदान्त के त्रिमुनि में तीसरा नाम व्यासराय का है । द्वैत परम्परा के तार्किकों में इनका स्थान अद्वितीय है[२] । इस परम्परा में इन्हें नवीन व्यास की संज्ञा दी गयी है --

> यदधीतं तदधीतं यदनधीतं तदप्यधीतम् ।
> पदार्थविपदो नावेदि विना नवीन व्यासेन ।।

गुरु शिष्य परम्परा में व्यासराय विष्णुदासाचार्य से चौथे शिष्य ब्रह्मण्यतीर्थ के शिष्य थे । इनका जन्म दक्षिणभारत के मैसूर जिले के बन्नूर नामक गांव में १४६० ई० में हुआ था । 'न्यायामृत' इनकी परमप्रसिद्ध कृति है । यह अत्यन्त तर्कपूर्ण ग्रन्थ है । जयतीर्थकृत तत्वप्रकाशिका की टीका 'तात्पर्यचन्द्रिका' इनकी दूसरी महत्वपूर्ण कृति है । तर्कताण्डव, मन्दार-मञ्जरी और भेदोज्जीवन इनकी अन्य प्रसिद्ध कृतियां हैं ।

---

१. विष्णो: कल्याणधर्मा: श्रुतिशतविहिता: सर्वथा नैव बाध्या:
नात्रापच्छेद नीति: सुनियतविषये नो विकल्पावकाश: ।
नित्यान्, सत्यांश्च धर्मान् प्रथयति निगम: सादरं मुक्तयेऽतो
वेधा धर्मनिषेधस्तु न कथमपि हरे: किन्तु हेया निषेध्या: ।।
(वादरत्नावली)

२. Vyasaraya is the prince of dialecticians of the dvaita system.

(Dr. B.N.K. Sharma - H.D.S.V.)

न्यायामृत —

व्यासराय ने 'न्यायामृत' में उन विषयों का विस्तृत विवेचन किया है, जिन्हें इनके पूर्व आचार्यों ने संक्षिप्त रूप में रखा है। मिथ्यात्व और उससे सम्बन्धित तथ्यों का जयतीर्थ और विष्णुदासाचार्य ने संक्षिप्त विवेचन किया है। व्यासराय ने इस विषय का विशिष्टत: व्याख्यान करते हुए अद्वैतियों के द्वारा दी गयी मिथ्यात्व की सभी विभिन्न परिभाषाओं की विशद विवेचना करते हुए उनका खण्डन किया है। इन्होंने चित्सुख और आनन्द-बोध के द्वारा प्रस्तुत की 'दृश्यत्व' और 'जडत्व' इत्यादि की विभिन्न व्याख्याओं में अनेक विकल्पों को लेकर उनमें परस्पर विरोध और अद्वैतमत के पूर्व लेखकों के सिद्धान्तों से विरोध प्रदर्शित किया है।

इसके पश्चात् इस परम्परा में कोई ऐसा आचार्य नहीं हुआ, जिसने मौलिक ग्रन्थों या विशिष्ट टीकाओं का प्रणयन किया हो।

द्वितीय अध्याय

-o-

प्रकृति-विचार

द्वितीय अध्याय

-0-

प्रकृति-विचार

पदार्थ-निरूपण

द्वैत का विचार और उसका अभिप्राय

द्वैत वेदान्त का अध्ययन करने के लिये पहले 'द्वैत' का आशय स्पष्टत: समझ लेना आवश्यक है, जिसका प्रयोग सामान्यत: माध्व विचारधारा के लिये किया जाता है। सामान्यत: ऐसा समझा जाता है कि संस्कृत पद 'द्वैत' और अंग्रेजी पद Dualism में इन मतों की विचारधाराओं के कारण साम्य है। किन्तु मध्व-दर्शन के विषय में उक्त धारणा उपयुक्त नहीं है। मध्व का द्वैत-विचार उक्त Dualism से सर्वथा भिन्न है।

स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र द्विविध सत्ताएँ—

पाश्चात्य दर्शन के अनुसार Dualism वह सिद्धान्त है जिसमें दो स्वतन्त्र एवं परस्पर समीकरण न करने वाले तत्त्वों को स्वीकृत किया जाता है।[1] भारतीय दर्शन में सांख्य-द्वैत को इस प्रकार का माना जा सकता है, क्योंकि सांख्य मत में प्रकृति और पुरुष दोनों को स्वतन्त्र सत्ता माना गया है। मध्व के द्वैत में यद्यपि द्विविध सत्ताओं को स्वीकृत किया गया है किन्तु इनमें एक मात्र ईश्वर को स्वतन्त्र माना गया है एवं अन्य को अस्वतन्त्र[2]।

---

१. 'Theory which admits two independent and mutually irreducible substances'

(Dictionary of philosophy-Dagobert D. Runes)

२. स्वतन्त्रमस्वतन्त्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते। (तत्त्वसंख्यान-मध्व)

ईश्वर सर्वोत्कृष्ट सत्ता है। वह एक और वही एकमात्र स्वतन्त्र है, उसके अतिरिक्त सब कुछ प्रकृति, पुरुष, काल, कर्म, स्वभाव आदि परतन्त्र है। यह स्वतन्त्र और परतन्त्र द्विविध सत्ताओं का विचार ही माध्व द्वैत को समझने का मूल आधार है। 'स्वतन्त्र' और 'परतन्त्र' का लक्षण जयतीर्थ ने स्पष्ट किया है —

'स्वरूपप्रमितिप्रवृत्तिलक्षणसत्तात्रैविध्ये परानपेक्षं स्वतन्त्रम्। परापेक्षमस्वतन्त्रम्।'[१]

इस प्रकार यह निश्चित होता है कि भारतीय दर्शन में 'द्वैत' पद का अभिप्राय उस दार्शनिक मत से है जिसमें विश्व की व्याख्या करने के लिये एक से अधिक मूल आध्यात्मिक तत्त्व-श्रेणियाँ स्वीकृत की जाती हैं,[२] अथवा जीवात्मा और परमात्मा में शाश्वतभेद माना जाता है। शंकराचार्य के अनुसार द्वैती वे हैं जो बन्ध और मुक्ति को यथार्थ स्थितियाँ अथवा आत्मा से सम्बन्धित अनुभव के रूप में स्वीकृत करते हैं जबकि अद्वैती आत्मा के लिये बन्ध और मोक्ष जैसी स्थितियों के याथार्थ्य को अस्वीकृत करते हैं।[३]

---

१. तत्त्वसंख्यान टीका

२. द्वैतिनो हि ते सांख्यायोगाश्च नात्मैकत्वदर्शिनः

(शंकर ब्र० सू० भाष्य २।१।३)

३. आत्मनोबन्धमुक्तावस्थे परमार्थतः एववस्तुभूते मते सर्वेषां द्वैतवादिनाम्। अद्वैतिनां पुनः द्वैतस्य अपरमार्थत्वात्

(शंकर- गीताभाष्य १३।२)

मध्व के द्वैत सिद्धान्त में उक्त मत सत्य है। उनके अनुसार शरीरधारी प्राणियों के सभी अनुभव और बन्धन एवं मुक्ति तथा बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने के सभी प्रयत्न यथार्थ हैं, ये माया के मिथ्या कार्य मात्र नहीं हैं।

द्विविध सत्ताओं का विवेचन करते हुए मध्व ने बताया है कि यदि दो समान परमस्वतन्त्र सत्ताओं को स्वीकार कर लिया जाय तो तार्किक आपत्ति और विरोध उत्पन्न होगा, जिसे जयतीर्थ ने और अधिक स्पष्ट किया है। उनके अनुसार यदि सबको स्वतन्त्र स्वीकृत किया जाय तो नित्य-सुखादि का प्रसंग होगा क्योंकि नित्य सुख होने पर ही किसी को सर्वथा स्वतंत्र माना जा सकता है। यदि सब अस्वतन्त्र हों तो किसी की प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि प्रवृत्ति होने के लिये एक स्वतन्त्र प्रेरक अवश्य होना चाहिए। अन्धे और लंगड़े के सहयोग के समान व्यवहार नहीं माना जा सकता है, क्योंकि प्रवृत्ति के अभाव में प्रत्यासत्ति ही उपपन्न नहीं होगी। इसके अतिरिक्त सबको स्वतन्त्र मानने में प्रतीति-विरोध होगा, क्योंकि पारतन्त्र्य देखा जाता है और यदि परतन्त्र ही तत्त्व हो तो अवस्थिति के असम्भव होने से किसी के भी सत्तादि नहीं होंगे तथा आगमविरोध भी होगा[1]।

---

1. सर्वस्य स्वतन्त्रत्वे नित्यसुखादि प्रसंग:। अस्वातन्त्र्ये न कस्यापि प्रवृत्ति:। अन्धपङ्गुवदिति चेन्न, प्रत्यासत्तेरेवानुपपत्ते:। यदि सर्वमेव स्वतन्त्रं स्यात् तदा पारतन्त्र्यादिति प्रतीतिविरोध: नित्यसुखादिप्रसंगश्च यदि वा परतन्त्रमेव तत्त्वं भवेत् तदा अवस्थितेरसंभवाच्च न कस्यापि सत्तादिकं स्यात्। आगम-विरोधाच्च।

(तत्त्वसंख्यान टीका - जयतीर्थ)

अत: एक ही सत्ता सर्वथा स्वतन्त्र हो सकती है, अन्य सब उसके आश्रित और अधीन हैं। ईश्वर ही परमसत्ता और स्वतन्त्र अद्वितीय तत्व है। अन्य सब प्रकृति, पुरुष, काल, कर्म आदि परतन्त्र हैं। ईश्वर स्वयं में सर्वथा पूर्ण है। प्रकृति, पुरुष आदि परतन्त्र तत्त्वों का अस्तित्व भी शाश्वत है, किन्तु उनका अस्तित्व ईश्वर के अनुग्रह के अधीन है[1]।

स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र दो सत्ताओं की स्पष्ट परिभाषा करते हुए मध्वाचार्य ने नियन्त्रित सत्ता और उपनिषदों के अद्वितीय तत्त्व ब्रह्म के बीच तर्कसंगत सम्बन्ध बताया। उपनिषदों के 'एकमेवाद्वितीयम्'[2] का स्पष्ट अभिप्राय और उनकी परम-एकत्व की भाषा शंकराचार्य को अभिमत अद्वैत नहीं, अपितु यह है कि ब्रह्म ही सम्पूर्ण सत्ताओं में प्रधान, सर्वोत्कृष्ट और सबका स्वामी है। वह सत्यों का भी सत्य, नित्यों का भी नित्य, वस्तुत: प्रकृति के सम्पूर्ण रूपों और कार्यों का परमनियन्ता है। इस सत्य का ज्ञान भौतिक सीमित जीवन के आकर्षणों का त्याग कर उस परम सत्ता के ज्ञान की उत्कट इच्छा उत्पन्न करता है।

सीमित सत्ता के दृश्यमान होने से औपनिषद् विचारों का दार्शनिक प्रयोजन और अभिप्राय स्पष्ट होना अत्यन्त आवश्यक है। जयतीर्थ ने मध्व द्वारा प्रतिपादित उपनिषदों के मूल आध्यात्मिक विचारों की उत्कृष्ट व्याख्या की है। उनके अनुसार सर्वत्र वेदान्त वाक्यों में निखिल-कल्याण-गुण-

---

1. द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
   यदनुग्रहत: सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया।
   -- श्रीमद्भागवत २।१०।१२

2. छा० उ० ६।२।१

पूर्ण एवं सम्पूर्ण दोषों से रहित परम ब्रह्म का ही विभिन्न प्रकार से प्रतिपादन करते हैं।[1]

अस्वतन्त्र सत्ता -

अस्वतन्त्र सत्ताओं में द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव, जीव और आकाश नित्य हैं। इनमें जीव या आत्मा चेतन और शेष अचेतन हैं। जगत् का मूल प्रकृति है, जो परमाणुरूपा, त्रिगुणात्मिका और सूक्ष्म है। जगत् के मूल के विषय में द्वैतमत के विचार अंशत: सांख्यमत से और अंशत: न्यायवैशेषिक मत से मिलते जुलते हैं।

सांख्य की प्रकृति -

सांख्य में प्रकृति और पुरुष दो सत्ताएं स्वीकृत की गयी हैं। ये दोनों ही निरपेक्ष और स्वतन्त्र हैं। सांख्य की प्रकृति जड़ होते हुए भी स्वतन्त्र रूप से जगत् की सृष्टि करने में समर्थ है। यह त्रिगुणात्मिका है। प्रलय की अवस्था या साम्यावस्था में ये तीनों गुण सत्त्व, रजस् और तमस् सम मात्रा में रहते हैं। इस अवस्था में वह अव्यक्त होती है। सत्वगुण लघु और प्रकाशक, रजस् चल और क्रियाशील तथा तमस् गुरु और आवरक होता है।[2] सृष्टि का प्रारम्भ इन गुणों के क्षोभ से होता है। क्षोभ से इनमें वैषम्य होता है और महदादिक्रम से दृश्यमान नाना स्थूलरूप जगत् की सृष्टि

---

1. सर्वाण्यपि हि वेदान्तवाक्यान्यसंख्येय कल्याणगुणाकरं सकलदोषगन्ध-विधुरं परं ब्रह्म... प्रतिपादयन्ति (न्या० सु० पृ० १२५)
2. सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
   गुरु वरणकमेव तमः .... ।।

   — सांख्यकारिका १३

होती है[1]। अव्यक्त प्रकृति से सृष्टि का क्रम निम्न प्रकार से प्रदर्शित किया जा सकता है —
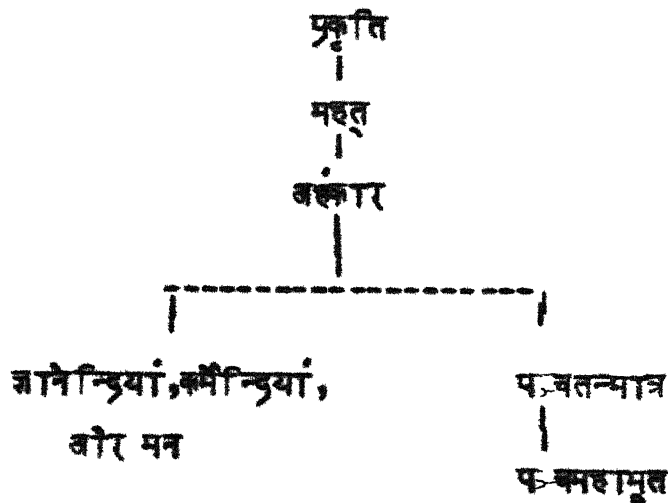
न्याय-वैशेषिकाभिमत जगत् का मूल -

न्याय और वैशेषिक मत में परमाणुओं को जगत् का मूल माना गया है। उनके अनुसार पृथ्वी, जल, तेज, और वायु सूक्ष्म परमाणु रूप से नित्य हैं। इन सूक्ष्म परमाणुओं के संयोग से स्थूल भूतों की सृष्टि होती है। यह परमाणु-संयोग ईश्वर की सृष्टि करने की इच्छा से होता है,उनमें स्वयं कोई क्रिया उत्पन्न नहीं होती है। यह सृष्टि द्व्यणुकादि क्रम से दृश्यमान नानारूप स्थूल जगत् पर्यन्त होती है। आकाश नित्य है।

---

१. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारः तस्माद्गणश्च षोडशकः।

-- सांख्य कारिका २२

माध्व मत में प्रकृति

प्रकृति ईश्वर के अधीन है–

माध्व मत में जगत् का मूल कारण प्रकृति को ही माना गया है, किन्तु वह प्रकृति सांख्य की प्रकृति से कुछ भिन्नस्वरूप वाली है। यद्यपि सांख्य मत की प्रकृति के समान वह भी त्रिगुणात्मिका है, किन्तु वह जगत् की सृष्टि करने में स्वतन्त्र नहीं है। वह स्वरूपत: जड़ अतएव निष्क्रिय या निश्चेष्ट है। वह नित्य होने पर भी सर्वथा ईश्वर के अधीन है। ईश्वर की माया शक्ति के द्वारा ही उससे जगत् की सृष्टि होती है। माध्व मत की माया शंकराचार्य की माया के समान सदसद् विलक्षण, अनिर्वचनीय, किञ्चित् भावरूप अज्ञान या अविद्या नहीं अपितु परमेश्वर[1] की शक्ति विशेष है। यह जगत् उसी माया से निर्मित और पालित है। जड़ पदार्थ स्वतन्त्र नहीं हो सकते हैं। प्रकृति के जड़ होने से उससे महदादि की सृष्टि स्वतन्त्रतया सम्भव नहीं है।

प्रकृति परमाणुरूपा है–

सांख्यमत में अव्यक्त प्रकृति त्रिगुणात्मिका और मूल होती है, किन्तु माध्व मत में इस अव्यक्त प्रकृति को न्यायवैशेषिक के सूक्ष्ममूर्तों के समान परमाणुरूपा स्वीकृत किया गया है। माध्वमत में महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य यह है कि इसमें प्रकृति के अन्तर्गत ही महद्, अहंकार, मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और पञ्च तन्मात्र या सूक्ष्ममूर्तों को भी अव्यक्त रूप में स्वीकृत किया गया है। ये भी परमाणु रूप में अव्यक्त और नित्य हैं। किन्तु इन्हें भी प्रकृति ही कहा जाता है। ये सभी परमाणुरूप में त्रिगुणात्मक होते हैं।

---

1. द्रष्टव्य न्या० सु० पृ० २२२ एवं ४५८

प्रकृति के अभिमानी देवता भी होते हैं। ये प्रकृति आदि उत्पत्तिरहित नहीं हैं। उनकी उत्पत्ति होती है, किन्तु उनकी उत्पत्ति घटादि की उत्पत्ति की तरह अभूत्वाभवनलक्षणा नहीं अपितु पराधीनातिशयलाभलक्षणा है[१]। परमेश्वर के अधीन उनमें अपूर्व विशेष की उपजनन होता है। अपूर्व विशेष का उपजनन होने पर विशिष्टाकार की उत्पत्ति होती है, और विशिष्टाकार वस्तुस्वरूप से अभिन्न होता है। इस प्रकार उनकी उत्पत्ति उपपन्न होती है। जैसे देवदत्त: विद्वान् जात:, घट: संयुक्तो जात: आदि में वस्तु का स्वरूप अवस्थित रहने पर भी विशेषावाप्तिमात्र से जनन का व्यवहार किया जाता है।

इस प्रकार ईश्वराधीन-विशेषावाप्ति ही प्रकृत्यादि का जन्म है। इसी प्रकार पुरुष या जीवों का शरीर से सम्बन्ध होना ही उनका जन्म कहा जाता है।

आकाश और वायु के दो रूप स्वीकृत किये गये हैं, अव्याकृत और स्थूल। अव्याकृत आकाश और वायु नित्य हैं, किन्तु स्थूल आकाश और वायु उत्पत्तिमान् हैं।

<u>सृष्टिक्रम</u> —

माध्व मत में भी सृष्टि क्रम सांख्य मत के समान ही स्वीकृत किया गया है। प्रकृति से महदादि क्रम से स्थूल जगत् की सृष्टि होती है। यह सृष्टि ईश्वराधीन होती है। प्रकृति की अभिमानिनी देवता रमा साक्षात् ईश्वर की इच्छा से विकृतस्वरूप विशेष को प्राप्त करती है। इसे प्रकृति की सृष्टि कहा जाता है, इसी प्रकार महदादि भी ईश्वर की इच्छा से उपचयावाप्ति रूप विशेष लाभ लक्षणा उत्पत्ति प्राप्त करते हैं।

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु० पृ० ४३०

प्रकृति जगत् का उपादान कारण है--

प्रकृति ही जगत् का उपादान कारण है। दृश्यमान जगत् जड-चेतन उभयात्मक है। इनमें शरीरधारी चेतनप्राणियों में चेतन अंश तो आत्मा या जीव का धर्म है। वह निरुपादानक है। जीव अनेक, परस्पर भिन्न एवं अनादि है, अत: उनका निरुपादान होना संगत ही है। सम्पूर्ण जड अंश का उपादान त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही है। सम्पूर्ण दृश्यमान जड़ शरीरादि एवं काष्ठ पाषाणादि जड एवं त्रिगुणात्मक हैं। अत: उनका उपादान त्रिगुणात्मक और जड ही होना चाहिए, क्योंकि कारण के गुण ही कार्य में अनुवर्तित होते हैं, कारण में न रहने वाले गुणों का कार्य में भाव नहीं हो सकता है।

ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण नहीं माना जा सकता है। यदि ब्रह्म को जगत् का उपादान माना जाय तो सम्पूर्ण कार्यों को चेतन होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है। जगत् की ब्रह्मोपादानकता का खण्डन 'जगत्-विचार' में विशद रूप से किया जायेगा।

कर्तृत्व और भोक्तृत्व

उक्तस्वरूपा प्रकृति से सम्पूर्ण भोग्य जगत् की सृष्टि होती है। जीव भोक्ता एवं कर्ता है। प्रकृति के कार्य शरीरेन्द्रियादि जीव के कर्तृत्व या भोक्तृत्व में साधन बनते हैं। यह कर्तृत्व भोक्तृत्व और भोग्यत्व सत्य है। जीव अपने किये गये अच्छे या बुरे कर्मों का तदनुरूप फल भोगता है। शुभ कर्मों के फलस्वरूप सुख और अशुभ कर्मों के फलस्वरूप दु:ख होता है।

प्रत्येक जीव का वर्तमान शरीर और सुख-दु:खादि प्रारब्ध कर्मों का फल है। ये सुख दु:खादि सर्वथा सत्य हैं, इसका अनुभव सबको होता है। इस सत्य दु:खादियुक्त संसार बन्ध से पीड़ित होकर ही प्राणी इससे मुक्ति की इच्छा और प्रयत्न करता है।

ईश्वर की इच्छा से ही नाना स्थूल जगत् का लय होकर पुन: मूल अव्यक्त प्रकृति का रूप में प्राप्त होता है। यह लय सृष्टि के विपरीत क्रम में होता है। सर्वप्रथम स्थूल भूतों का लय होकर सूक्ष्म भूत और स्थूल इन्द्रियों की सूक्ष्म इन्द्रिय के रूप में अवस्थिति होती है। इसी प्रकार स्थूल अहंकार, महत् और प्रकृति सूक्ष्म अव्यक्त रूप में अवस्थित होते हैं।

अद्वैत मत के अज्ञान-सिद्धान्त का खण्डन

अद्वैत मत में प्रकृति या जगत् को अज्ञान कल्पित माना गया है। इस मत के अनुसार यह अज्ञान भावरूप और सद् सद्विलक्षण या अनिर्वचनीय है। इसी अज्ञान को ही अविद्या कहा गया है। इसकी आवरण और विक्षेप नामक दो शक्तियां हैं। आवरण शक्ति ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को आवृत कर देती है और विक्षेप शक्ति उसे जगदादि-भिन्न रूप से प्रदर्शित करती है। जीव का भाव भी इसी अज्ञान से कल्पित है। मायावादियों के इस सिद्धान्त की जयतीर्थ ने विशद आलोचना की है।

जयतीर्थ के अनुसार मायावादियों का अज्ञान सिद्धान्त सर्वथा अनुपपन्न है। उस भावरूप अज्ञान के तीन आश्रय हो सकते हैं --(१) जीव, (२) ब्रह्म, या (३) जड़।

इनमें से प्रथम विकल्प सम्भव नहीं है। अज्ञान को जीवाश्रय मानने पर अन्योन्याश्रयत्व दोष होगा, क्योंकि जीव का कारण अज्ञान है और अज्ञान जीव-सापेक्ष है। इसके अतिरिक्त कारणभूत अज्ञान कार्यभूत जीव पर आश्रित नहीं हो सकता है। जीव और अज्ञान की परम्परा को अनादि मानकर उसे बीजाङ्कुर के समान अदोष नहीं कहा जा सकता है। बीजाङ्कुर के दृष्टान्त और जीवाज्ञान में वैषम्य है। बीज और अङ्कुर में व्यक्तिभेद है अतः वह अदोष है, किन्तु जीव और अज्ञान में व्यक्ति भेद नहीं है।

द्वितीय विकल्प भी अस्वीकरणीय है। ब्रह्म स्वयं अज्ञान-कल्पित है, अतः उसे अज्ञान का आश्रय मानने पर अन्योन्याश्रयत्व दोष होगा। इसके अतिरिक्त ब्रह्म अज्ञान का कार्य और अज्ञान कारण है। कारण कभी भी कार्य पर आश्रित नहीं देखा जाता है।

यदि ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय माना जाय तो उस अज्ञानावरण के तीन पक्ष हो सकते हैं :-(१) वह ब्रह्म को आवृत करता है या (२) जीव को आवृत करता है, या (३) जड़ को आवृत करता है ।

यदि अज्ञान ब्रह्म को ही आवृत करता है तो उस ब्रह्माश्रित और ब्रह्मावरण अज्ञान का कुछ विषय होना चाहिए जिसके प्रति ब्रह्म को आवृत करता है; क्योंकि यह देखा जाता है कि पटलादि आवरण किसी पर आश्रित हुआ किसी विषय के प्रति ही उसे आवृत करता है । इस अज्ञान के तीन विषय हो सकते हैं — (१) ब्रह्मगत कोई धर्म या (२) ब्रह्म का स्वरूप या (३) इनसे अतिरिक्त कुछ ।

उक्त विकल्पों में से प्रथम विकल्प उपपन्न नहीं होता है । क्योंकि अद्वैत मत के अनुसार ब्रह्म निर्विशेष है, उसमें कोई धर्मादि नहीं है ।

उसके स्वरूप को भी आवरण का विषय नहीं माना जा सकता, क्योंकि ब्रह्म नित्यसिद्ध और स्वयं-प्रकाश है । स्वयं प्रकाशमान वस्तु अज्ञान से आवृत हो, यह सम्भव नहीं है ।

मायावादी का कथन है कि ब्रह्मावरण अज्ञान से उसका स्वरूप भले न आवृत हो किन्तु उसके अद्वितीयत्वादि धर्म आवृत होते हैं । ब्रह्म यद्यपि परमार्थत: निर्विशेष है तथापि उसमें मिथ्या धर्म अङ्गीकृत किये जाते हैं । और ब्रह्म के अद्वितीयत्वादि धर्मों का मिथ्यात्व स्वरूपेण नहीं, किन्तु धर्मस्वरूप से है । जैसा कि कहा गया है- `चैतन्य से अपृथक होने पर भी पृथक् जैसे आभासित होते हैं ।`

पूर्वपक्ष का उक्त कथन उपयुक्त नहीं है । अद्वितीयत्वादि धर्म स्वरूप से अज्ञानावृत नहीं हो सकते हैं । स्वरूप की आवरण-विषयता

का निराकरण किया जा चुका है। मिथ्याभूत धर्म को आवरण का विषय मानने पर परस्पराश्रयत्व दोष होगा ; क्योंकि मिथ्याधर्म अज्ञान की सिद्धि की अपेक्षा रखता है, `अज्ञान के अतिरिक्त सम्पूर्ण मिथ्याभूत अज्ञान का कार्य है, `ऐसा मायावादियों का मत है; और अज्ञान मिथ्याभूत विशेष की अपेक्षा रखता है।

ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी आवरण का विषय नहीं माना जा सकता है। ब्रह्मातिरिक्त अन्य सब कुछ मिथ्या है, और मिथ्या भूत सब अज्ञान-सापेक्ष है। अत: पूर्वोक्त परस्पराश्रयत्व दोष होगा।

`अज्ञान जीव को आवृत करता है`, यह विकल्प भी पूर्वोक्त प्रकार से निरस्त हुआ।

`अज्ञान जड को आवृत करता है` यह पक्ष भी नहीं सिद्ध होता है। जड मिथ्या अतएव अज्ञान-सापेक्ष है, अत: पूर्वोक्त अन्योन्याश्रयत्व दोष होगा। मायावादी भी अज्ञान को जड का आवरण नहीं स्वीकार करते हैं, जैसा कि उनका मत है -- `साच न जडेषु वस्तुष तत्स्वरूपावभासं प्रतिबध्नाति।` उनके अनुसार जड के अप्रकाशस्वरूप होने से ही उससे किसी का ग्रहण नहीं होता, उसमें आवरण की कल्पना करना व्यर्थ है।

इस प्रकार अज्ञानावरण के आश्रयरूप से कोई विकल्प उपपन्न नहीं होता है, और आवरण आश्रयादिमान् होता है। जैसे नयनपटलादि। उक्त विकल्पों के अतिरिक्त अज्ञानावरण का अन्य आश्रय नहीं माना जा सकता है। तथा च उक्त विकल्पों की अनुपपत्ति होने से आश्रयादि के अभाव में अज्ञानावरण का अभाव भी प्रसक्त होगा। अज्ञान का अभाव होने से वह भाव का उपादान नहीं माना जा सकता है और इस

प्रकार वेद और उसकी मीमांसा करने वाला समग्र शास्त्र व्यर्थीभूत हो जायेगा ।

मायावादी शास्त्र की विषय प्रयोजनवत्ता की सिद्धि के लिए आत्मा में मिथ्याभूत और अज्ञानोपादानक बन्धाध्यास की कल्पना करते हैं । किन्तु अज्ञान की अनुपपत्ति होने पर तदुपादानक बन्धाध्यास भी अनुपपन्न होगा और शास्त्र का कोई और प्रयोजन नहीं रह जायगा, क्योंकि शास्त्र की विषय प्रयोजनवत्ता बन्धाध्यास के ही अधीन है ।

यदि अज्ञानोपादानक बन्ध को स्वीकृत भी कर लिया जाय तो अज्ञान के सत्य होने पर बन्ध भी सत्य होगा और उसकी निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि मायावादियों के मत में सत्य की ज्ञान से निवृत्ति नहीं होती है। इस प्रकार भी शास्त्र व्यर्थ ही होगा ।

मायावादी का कथन है कि अज्ञान सत्य नहीं, अपितु वह भी मिथ्या है, अत: उससे मिथ्याबन्धाध्यास के निवर्त्य होने से शास्त्र का वैयर्थ्य नहीं होगा ।

उक्त मत भी समीचीन नहीं है । यदि अज्ञान मिथ्या है, तो वह भी आत्मा में आरोपित होगा, क्योंकि मायावादी सम्पूर्ण मिथ्याभूत को आरोपित मानते हैं । यहां प्रश्न उठता है कि यह अज्ञान का आरोप (१) स्वाभाविक है ? या (२) सहेतुक ?

यदि इस आरोप को स्वाभाविक माना जाय तो अज्ञान-निवृत्ति रूप मोक्ष की असंभवता का प्रसंग होगा, क्योंकि स्वाभाविक की निवृत्ति नहीं होती है । यदि स्वाभाविक की भी निवृत्ति मान लें तो आत्म-स्वरूप की भी निवृत्ति का प्रसंग होगा ।

अज्ञान के आरोप को सहेतुक मानने में दो विकल्प हो सकते हैं उसका निमित्त (१) आत्मस्वरूप है या (२) अज्ञान । इनमें प्रथम

विकल्प सम्भव नहीं है। आत्मस्वरूप निष्कलङ्क एकरस और अद्वितीय चैतन्य है ; अत: उसका अज्ञान से योग नहीं हो सकता है।

द्वितीय विकल्प भी उपपन्न नहीं है। अज्ञान के आरोप का उपादान अज्ञान या तो सत्य होगा या आरोपित। यदि वह सत्य हो तो उससे होने वाला बन्ध भी सत्य होगा, जिसकी निवृत्ति न होगी। यदि वह आरोप का उपादान अज्ञान भी आरोपित कहा जाय तो उसके आरोप का निमित्त भी अन्य अज्ञान को मानना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था होगी। एक ही अज्ञान मानकर उसे स्वोपादानक मानने पर आत्माश्रयत्व दोष होगा।

'अज्ञानारोप अनादि होने से अनवस्था नहीं होगी'—ऐसा कहना ठीक नहीं है ; उसके स्वाभाविकत्व और सहेतुकत्व पक्षों में से एक पक्ष अवश्य स्वीकृत करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त अविद्या को एक और अनादि मानते हुए उसका स्वरूपत: सत्त्व नहीं किन्तु प्रातिभासिक सत्त्व स्वीकृत किया गया है। वह प्रतिभास निष्कलङ्क, असंग चैतन्य के अज्ञान प्रतिभास के बिना उपपन्न नहीं होता है। इस प्रकार अज्ञान परम्परादि अनवस्थादि दोष भले न हो किन्तु प्रतिभास परम्परा से होने वाली अनवस्था अपरिहार्य होगी।

मायावादियों के अभिमत अज्ञान में प्रमाणाभाव

मायावादि मत — मायावादियों के अनुसार अज्ञान अवश्य ही अनादि, भावरूप, और ज्ञान से निवृत्त होने वाला है। उसका स्वरूप प्रत्यक्ष, अनुमान आगम और अर्थापत्ति प्रमाणों से सिद्ध है।

उक्त स्वरूप अज्ञान प्रत्यक्षसिद्ध है। 'मैं अज्ञ हूं', 'मैं स्वयं को और अन्य को नहीं जानता हूं' इस प्रकार का अपरोक्षावभास होता है। यह अवभास ज्ञानाभाव विषयक नहीं, किन्तु 'मैं सुखी हूं' इस अवभास

के समान अपरोक्षावभास है। अभाव तो षष्ठ प्रमाण (अभाव प्रमाण) से गम्य है। अभाव को प्रत्यक्ष प्रमाण गम्य मानने वाले को भी आत्मा में ज्ञानाभाव का बोध नहीं हो सकता है। 'मयि ज्ञानं नास्ति', यह प्रतिपत्ति होने पर धर्मी आत्मा और प्रतियोगी अर्थ का ज्ञान तो होता ही है; इसलिए वहाँ ज्ञान का सद्भाव होने से ज्ञानाभाव का प्रत्यय सम्भव नहीं होगा। धर्मी आदि का अवगम न होने पर भी ज्ञान के अभाव का अवगम नहीं हो सकता है। क्योंकि आत्मा में ज्ञान के अभाव की प्रतिपत्ति नहीं होती है। 'तुम्हारे द्वारा कथित अर्थ, संख्या या शास्त्रार्थ को नहीं जानता हूं', इस प्रकार विषय-व्यावृत्त अज्ञान का अनुभव करके ही कोई उस अर्थ के श्रवणादि में प्रवृत्त होता है। भावरूप अज्ञान के प्रत्यक्षवाद में तो आश्रय और प्रतियोगि का ज्ञान होने पर भी ज्ञानाभाव की अनुपपत्ति के समान अन्यभाव की अनुपपत्ति नियमित नहीं की जा सकती है। अर्थात् आश्रय और प्रतियोगी का ज्ञान हो जाने पर वहां ज्ञान का अभाव तो अनुपपन्न है किन्तु भावरूप अज्ञान, अन्य भाव के समान ही उपपन्न होता है। आश्रय और प्रतियोगी के ज्ञान से युक्त साक्षि-चैतन्य भी भावान्तर अज्ञान का निवर्तक नहीं हो सकता है। क्योंकि वह अज्ञान रूप विषय का प्रतिभास होता है। स्वयं के ज्ञान से स्वयं निवृत्त नहीं होता है।

इस प्रकार उपपत्ति सहित अज्ञान का प्रत्यक्ष आत्मा में भावरूप अज्ञान का बोध कराता है। इसके अतिरिक्त 'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्' यह सुषुप्ति काल का अनुभव भी इसमें प्रमाण है। इस सौषुप्तिक अनुभव को ज्ञानाभावविषयक नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि अभाव की प्रतीति धर्मी और प्रतियोगी के ज्ञान के अधीन होती है, सुषुप्ति में इनके ज्ञान का अभाव होने से तदाश्रित ज्ञानाभाव का अनुभव नहीं हो सकता है।

'यह सुषुप्तिकालीन अनुभव का परामर्श है, किन्तु सोकर उठे हुए पुरुष के सौषुप्तिक ज्ञानाभाव का अनुमान इस समय होता है'—यह

कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसके अनुमापक लिंग की असिद्धि है। सामग्री का अभाव भी लिंग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह भी असिद्धि है। ज्ञान के अभाव से सामग्री के अभाव का भी अनुमान करने से अन्योन्याश्रयता होगी। व्यभिचार होने से स्मरण का अभाव भी ज्ञानाभाव में लिंग नहीं हो सकता है।

इस प्रकार भावरूप अज्ञान के प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाने पर उसका अनुमान भी उपपन्न होता है। यहां इस प्रकार अनुमान किया जा सकता है -- विवादगोचरापन्न प्रमाणज्ञान स्वप्रागभावव्यतिरिक्त, स्वविषयावरण, स्वनिवर्त्य, स्वदेशगत वस्त्वन्तरपूर्वक है, अप्रकाशित अर्थ का प्रकाशक होने से, अन्धकार में प्रथम-उत्पन्न प्रदीपप्रभा के समान। अर्थात् प्रमाणज्ञान के देश में उसके होने से पूर्व उससे व्यतिरिक्त कोई वस्तु है, जो उस (प्रमाणज्ञान) के विषय का आवरण होती है, और उससे निवृत्त होने वाली है, क्योंकि वह अप्रकाशित अर्थ को प्रकाशित करता है, जिस प्रकार अन्धकार में अप्रकाशित अर्थ को प्रकाशित करने वाली प्रथम उत्पन्न दीपक की प्रभा के देश में उसके उत्पन्न होने से पूर्व, उस देश में स्थित अन्धकार है जो प्रदीपप्रभा से व्यतिरिक्त है और उससे निवृत्त होता है। इस प्रकार ज्ञान के समान आश्रय वाले विषय भाव-रूप अज्ञान की सिद्धि होती है।

'तम आसीत्'[१] इत्यादि और 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'[२] इत्यादि आगम भी इसमें प्रमाण है।

'तुम्हारे द्वारा कथित अर्थ को नहीं जानता हूं' इस

---

१. ऋ० १०। १२९। ३

२. श्वे० उ० ४।१०

व्यवहार की अन्यथानुपपत्ति भी भावरूप अज्ञान के सद्भाव में प्रमाण है ।

'मायावादि मत में भावरूप अज्ञान ज्ञान के द्वारा निवर्त्य है तो अर्थ के ज्ञायमान होने पर `न जानामि` इस प्रकार का व्यवहार कैसे हो सकता है ?`-- यह कहना ठीक नहीं है । हमारे मत में अज्ञान साक्षि-वेद्यतया प्रमाणों से अबोध्य है ; प्रमाणज्ञान के उदय के पूर्व अज्ञान-विशेषित अर्थ साक्षिसिद्ध होता है और `अज्ञात है` इस कथन का विषय बनता है ।

इसके अतिरिक्त विशुद्ध ब्रह्म और शुक्तिका में क्रमश: अहंकार और रजतादि-रूप अर्थज्ञानात्मक मिथ्याभूत अध्यास होता है, अत: इसका उपादान भी मिथ्याभूत ही होना चाहिए,क्योंकि इसका उपादान सत्य होने पर कारण के स्वभाव से अध्यास के भी सत्यत्व का प्रसंग होगा । तथा वह मिथ्या उपादान यदि सादि हो तो उसके भी अन्य उपादान की कल्पना करनी पड़ेगी । अत: अनवस्था से बचने के लिए उस उपादान को अनादि मानना चाहिए । इस प्रकार अज्ञान-रूप उपादान कारण के बिना उपपन्न न होने वाला अध्यास ही उक्त रूप अज्ञान को कल्पित करता है । तथा ज्ञान से बन्ध निवृत्ति के श्रवणादि की अन्यथानुपपत्ति भी बन्ध के उपादान अज्ञान में प्रमाण है ।

और इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध अज्ञान अनात्म में सम्भव नहीं होता है,क्योंकि इस विषय में कोई प्रमाण और प्रयोजन नहीं है । अत: परिशेष से आत्मा में अज्ञान अङ्गीकृत करना चाहिए ।

निराकरण

भावरूप अज्ञान की सिद्धि में प्रस्तुत मायावादियों का उक्त मत सर्वथा अयुक्त है । उनके द्वारा भाव-रूप अज्ञान की सिद्धि में उपन्यस्त

प्रत्यक्ष को ज्ञानाभावविषयक मानने में कोई दोष नहीं है । अभाव को षष्ठ (अभावनामक) प्रमाण का विषय न मानकर, प्रत्यक्ष का विषय मानना ही उचित है । यदि कहा जाय कि अभाव का प्रत्यक्ष मानने पर `धर्मिज्ञान के भाव और प्रतियोगिज्ञान के अभाव` की अनुपपत्ति होगी - तो ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो ज्ञानाभाव की सर्वथा प्रतीति न होगी और उसके निरास का प्रयास ही अनुपपन्न होगा । यदि साक्षी से ज्ञानाभाव की प्रतीति मान लें तो भी ठीक ही है । यहां हमारे ज्ञानाभाव की प्रतीति होगी ।

सौषुप्तिक ज्ञानाभाव के अनुमान में भी कोई अनुपपत्ति नहीं है । ज्ञानाभाव के अनुमान में अवस्थाविशेषत्व ही लिंग होगा ।

अनुमान असंबद्ध है--

भावरूप अज्ञान की सिद्धि में उपन्यस्त अनुमान तो असम्बद्ध ही है । ज्ञान और प्रदीपप्रभा में एक प्रकार का प्रकाशकत्व नहीं है,अत: अनुमान की असिद्धि होगी । केवल प्रकाशकत्व रूप शब्दसाम्य से ही अनुमान करने पर `गो` शब्द से वाच्य पृथ्वी, वाणी आदि में `गो` पशु के समान शृङ्गित्व का प्रसंग होगा ।[1] यदि पूर्व पक्षी कहे कि ज्ञान और प्रदीपप्रभा दोनों में `तमोविरोधित्व` एक जैसा ही है, तो भी ठीक नहीं है । वह तम भी दो में से एक ही हो सकता है -- (१) अविद्या या (२) अन्धकार ।

यदि तम को अविद्या मानें तो प्रदीपप्रभा का दृष्टान्त ठीक नहीं होगा क्योंकि वह अविद्या की निवर्तक नहीं है, और अन्धकार असिद्ध ही है । केवल `तम्` शब्द को ही लेकर साम्य मानने पर पूर्वोक्त दोष होगा ।

`तुम्हारे द्वारा उक्त अर्थ को नहीं जानता हूं` ऐसा

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु० पृष्ठ ६३

व्यवहार तो ज्ञानाभाव विषयक भी होगा ।

मायावादी को अभिमत अनादि अज्ञान को न मानने पर भी अध्यास-कार्य अनुपपन्न नहीं होगा, क्योंकि ज्ञान को अन्त:करणोपादानकता उपपन्न है, सत्य उपादान होने पर अध्यास के सत्यता की प्रसक्ति तो हमें इष्ट ही है । 'अध्यस्त रजत के समान ज्ञान का भी बाध नहीं होता है, ज्ञान का भी बाध होने पर रजतादि का याथार्थ्य भी होने लगेगा'-यह कहना ठीक नहीं है, स्वरूप सत् रजतादि अर्थ का भी विषय रूप से असत्व होने पर अयाथार्थ्य उपपन्न होगा । जो स्वरूपत: कहीं सत् हो वह सर्वत्र विषयरूप से भी सत् हो, इसका कोई नियामक नहीं है । रजतादि अर्थ विषय रूप से असत् होने से कारण की अपेक्षा ही नहीं रखते हैं । ज्ञान से बन्ध की निवृत्ति असिद्ध है ।

इस प्रकार मायावादियों को अभिमत भावरूप अज्ञान उक्त प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता है । यद्यपि द्वैतमत में भी भावरूप अज्ञान को स्वीकृत किया गया है किन्तु उसका स्वरूप मायावादियों के अज्ञान से भिन्न है । जयतीर्थ ने यह प्रदर्शित किया है कि मायावादि-मत में भावरूप अज्ञान सम्भव नहीं है ।

स्वभावाज्ञानवाद

द्वैत मत में स्वभावाज्ञानवाद स्वीकृत किया गया है जिसका स्वरूप जयतीर्थ ने विभिन्न प्रकार से इसकी व्युत्पत्ति बताते हुए स्पष्ट किया है । मायावादी का कथन है कि यदि द्वैतवादी भी भावरूप अज्ञान स्वीकृत करते हैं तो उनके कथनों के अनुसार ही उनके मत में भी शास्त्रवैयर्थ्य प्राप्त होगा ।

जयतीर्थ ने स्वभावाज्ञानवाद की इसका समाधान ^ व्युत्पत्ति बताते हुए किया है[1] —

(१) 'स्वश्चासौ भावश्चेति स्वभावो जीवः । तदाश्रितं तदावरणं चाज्ञानमिति वादः स्वभावाज्ञानवादः ।'

अर्थात् अज्ञान जीवाश्रित और जीव का आवरण है । वह अज्ञानवाद निर्दोष है, उसमें ब्रह्माज्ञानवाद या [illegible] में उक्त दोष नहीं है । अतः इस मत में शास्त्र-वैयर्थ्य नहीं होगा ।

(२) 'स्वयमेव भवत्यस्तीति स्वभावो नाज्ञानकल्पित इति यावत्'

अर्थात् अज्ञान स्वयं ही है वह अज्ञान कल्पित नहीं है । अतः इतरेतराश्रयरूप दोष न होने से शास्त्रवैयर्थ्य नहीं होगा ।

इस प्रकार द्वैत मत में अज्ञान जीवाश्रित और जीव का आवरण है । जीव स्वतः ही ब्रह्म से भिन्न और ज्ञान-स्वभाव है । वह यद्यपि स्वप्रकाश है तथापि परमेश्वर की इच्छा से उसे परमेश्वर के विषय में तथा स्वधर्मों के विषय में अज्ञान संभव है । यद्यपि धर्म स्वप्रकाश चैतन्य से भिन्न नहीं है, तथापि सविशेषत्व अङ्गीकृत करने से उसको अज्ञान-विषयता उपपन्न होती है । यह अज्ञान भी सत्य है, अज्ञानकल्पित नहीं । जीवचैतन्य ब्रह्मस्वधर्म-प्रकाशात्मक है, फिर भी परमेश्वर की अचिन्त्य, अद्भुत शक्ति से उपबृंहित अविद्यावशात् उस प्रकार संसार में प्रकाशित नहीं करता ।

---

१. स्वश्च स्वतन्त्रोभावः परमात्मा स्वस्य भावो धर्मः पारतन्त्र्यादिर्वा स्वभावः तद् विषयमज्ञानं जीवस्येति वादः स्वभावाज्ञानवादः । द्रष्टव्य न्या० सु० पृष्ठ ६३

अविद्या के दुर्घटत्व की आलोचना

मायावादियों के मत में भी अविद्या स्वीकृत की गयी है, किन्तु उनके अनुसार वह अविद्या दुर्घटघटनास्वभावा है[1]; उसका स्वरूप समझना दुर्घट है। उसके घटमान हो जाने पर अविद्यात्व ही दुर्घट हो जायेगा।

जयतीर्थ के अनुसार उक्त अविद्या के दो रूप संभव है -- (१) वह दुर्घट और सुघट-घटना-स्वभावा है या (२) स्वभावतः दुर्घटस्वभावा इनमें से प्रथम विकल्प मानने पर सुघट अंश में अविद्यात्व का प्रसंग होगा। द्वितीय विकल्प के अनुसार यदि अविद्या दुर्घटैकस्वभावा हो तो वह साधिष्ठाना और ससाक्षिका न होगी, उसके अधिष्ठान और साक्षी के होने पर सुघटत्व का प्रसंग अतएव अविद्यात्व के अभाव का प्रसंग होगा।

बन्ध-मिथ्यात्व का खण्डन

मायावादि मत के अनुसार अज्ञान से कल्पित प्रकृति या जगत् से कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूप मिथ्या बन्ध की उत्पत्ति होती है। इस बन्ध की निवृत्ति ज्ञान से होती है। इस मत का खण्डन जयतीर्थ ने सरल तर्कों के द्वारा किया है।

बन्ध मिथ्या होने पर मुक्ति की अपेक्षा नहीं है -

वस्तुतः कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूप बन्ध को मिथ्या मानना समीचीन नहीं है। उसको सत्य मानने पर ही मुक्ति की इच्छादि संगत

---

१. दुर्घटत्वमविद्याया भूषणं न तु दूषणम्।
कथंचिद् घटमानत्वेऽविद्यात्वं दुर्घटं भवेत् ॥

होती है । सत्य निगडादि से बंधे होने पर प्राणी उससे दु:खी होकर उससे मुक्त होने की इच्छा और प्रयत्न करते हैं । मिथ्या होकर भी कोई वस्तु बन्धन कैसे हो सकती है । मिथ्या आकाश कुसुम या शशविषाणादि की प्राप्ति या त्याग की इच्छा असंभव है । मिथ्या बन्ध से मुक्ति की अपेक्षा न होने से मोक्ष का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र निष्प्रयोजन होने से व्यर्थ होंगे ।

ज्ञान से बन्ध की निवृत्ति संभव नहीं है—

ज्ञान से बन्ध की निवृत्ति नहीं होती है । ईश्वर के दर्शन-जन्य प्रसाद से अवश्य मुक्ति संभव है । यह बन्ध अनादि माना गया है । यदि ज्ञान से अनादि बन्ध या अज्ञान की निवृत्ति होती है, तो अनादि आत्मा की निवृत्ति का भी प्रसंग होगा । यदि अद्वैती कहे कि 'मिथ्याभूत अज्ञान अनादि होने पर भी निवृत्त हो जाता है,किन्तु आत्मा सत्य होने से निवृत्त नहीं होता है तब तो निवृत्ति में अनादित्व को प्रयोजक न मानकर मिथ्यात्व को मानना पड़ेगा और मिथ्या अज्ञान को जिस किसी से भी निवृत्ति का प्रसंग होगा । यदि कहा जाय कि ज्ञान ही नियमत: अज्ञान का विरोधी होने से उसका निवर्तक है तो विरोधी का सद्भाव निवृत्ति में प्रयोजक होगा, मिथ्यात्वादि नहीं ।

इसके अतिरिक्त मिथ्या की ही नहीं अपितु सत्यभूत की भी निवृत्ति होती है । सत्य होने पर भी सर्पविष की निवृत्ति गरुड के ध्यान से होती है । विष को यदि सत्य न मानें तो नील-विशिष्ट इत्यादि भी असत्य होंगे । अत: ज्ञान से उनकी भी निवृत्ति होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है । इस प्रकार मिथ्याबन्ध की भी निवृत्ति नहीं होगी ।

मिथ्यात्व को अङ्गीकृत करके भी विरोधी को ही

निवृत्ति में प्रयोजक मानने की अपेक्षा केवल विरोधी को ही प्रयोजक मानने में लाघव होगा। `ज्ञान मिथ्याभूत का विरोधी होता है`, इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है।

बन्ध-विध्वंस को ही मुक्ति कहा गया है। किन्तु यदि बन्ध-मिथ्या है तो उसका ध्वंस नहीं स्वीकृत किया जा सकता है। मिथ्याभूत शशविषाणादि का ध्वंस नहीं स्वीकृत किया जाता है।

बन्ध-मिथ्यात्व की कल्पना ही असंगत है। `अथातो ब्रह्मजिज्ञासा` सूत्र की प्रयोजनोक्ति यह है कि ब्रह्मगत ज्ञान जीवगतबन्ध को निवृत्त करता है। यह प्रयोजनोक्ति बन्ध-मिथ्यात्व की अपेक्षा नहीं रखती है। यदि, जीवगतज्ञान जीवगत बन्ध को निवृत्ति करता है, यह सूत्र की प्रयोजनोक्ति होती तो कथंचित् बन्ध-मिथ्यात्व की अपेक्षा हो भी सकती थी।

यदि बन्ध मिथ्या हो और ज्ञानमात्र से उसका बाध हो तो ज्ञान हो जाने पर मुक्ति की अपेक्षा नहीं होगी और इस प्रकार ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने वालों की शरीरादि की निवृत्ति हो जायगी, क्योंकि शरीरादि भी मिथ्या है।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूप बन्ध का मिथ्यात्व अप्रामाणिक है। बन्ध को मिथ्या मानने में प्रथमतः प्रत्यक्ष विरोध तो स्पष्ट ही है। प्रत्यक्ष से उसके सत्यत्व का ज्ञान सभी को होता है। आगम में आत्मा को ही कर्ता बताया गया है। `प्रत्यक्ष से बन्ध के स्वरूप मात्र का ज्ञान होता है, उसके मिथ्यात्व का नहीं`- ऐसा कहना ठीक नहीं है। प्रत्यक्ष, बन्ध का ज्ञान कराते हुए उसके अस्तित्व या अनस्तित्व का भी ज्ञान करायेगा।

मायावादी का कथन है कि `एकमेवाद्वितीयम्`[1] और

---

१. छा० उ० ६।२।१

'नेह नानास्ति किञ्चन'[१] इत्यादि श्रुतियाँ एकमात्र और अद्वितीय ब्रह्म को सत् बताती है तथा ब्रह्म के अतिरिक्त दु:खादि सम्पूर्ण पदार्थों का मिथ्यात्व प्रतिपादित करती हैं।'

उक्त कथन समीचीन नहीं है। यदि आत्मातिरिक्त सभी पदार्थों का मिथ्यात्व स्वीकार किया जाय तो आत्मातिरिक्त होने से श्रुतिवाक्य भी मिथ्या होंगे, अन्यथा इन वाक्यों का प्रामाण्य स्वयं से ही व्याहत होगा। यदि ये वाक्य मिथ्या हों तो भी दु:खादि के मिथ्यात्व का प्रतिपादन नहीं हो सकेगा। मिथ्याभूत वन्ध्यासुत के वाक्य साधक नहीं होते हैं।

यदि 'नेह नानास्ति' इत्यादि श्रुति वाक्यों को अन्य मिथ्यात्व का साधक माना जाय तो इनके बोधकत्व के दो विकल्प हो सकते हैं --(१) ये वाक्य ऐसे व्यक्ति को बोध कराते हैं जिसे अद्वैत का निश्चय हो चुका है या (२) ऐसे व्यक्ति को बोध कराते हैं जिसे अद्वैत का निश्चय नहीं हुआ। प्रथम विकल्प मानने पर इन वाक्यों की व्यर्थता आपन्न होगी। द्वितीय विकल्प भी अनुपपन्न होगा, क्योंकि अनिश्चिताद्वैत पुरुष तो सत्य को साधक मानेगा। वह विचार करेगा कि यदि यह वाक्य ब्रह्मव्यतिरिक्त सब का मिथ्यात्व प्रतिपादित करता है तो स्वयं भी मिथ्या होगा, और यदि वाक्य मिथ्या है तो किसी भी अर्थ का साधक नहीं होगा।

स्वरूप सत् होने पर भी दु:खादि का तादात्म्य और तत्सम्बन्धित्व से आत्मा में आरोप होने पर ही व्यवहार की उपपत्ति होती है, किन्तु आरोपितत्व मात्र से उनका मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो जाता। यदि आरोपितत्व मात्र से ही मिथ्यात्व माना जाय तो आत्मा का भी मिथ्यात्व प्रसक्त होगा, क्योंकि अन्त:करणादि में अद्वैतवादी आत्मा का अध्यास स्वीकृत करते हैं।

---

१. बृ० उ० ४।४।१९

अद्वैतवादी भावरूप अज्ञान की सिद्धि के लिये `मैं अज्ञ हूं`, `मैं नहीं जानता हूं`, इस प्रकार के अपरोक्षावभासदर्शन से साक्षिप्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकृत करते हैं। इसी साक्षिप्रत्यक्ष से ही दु:खादिबन्ध की सत्यता भी सिद्ध होती है। `अज्ञानवश ही साक्षिप्रत्यक्ष का साधकत्व माना जाता है` यह कहना उपयुक्त नहीं है। अज्ञानवश साक्षी का साधकत्व मानने पर अन्योन्याश्रयत्व दोष होगा ; क्योंकि अज्ञान के होने पर साक्षी का साधकत्व होता है और साक्षिसाधकत्व से अज्ञान की सिद्धि होती है। दोनों को अनादि कहना भी ठीक नहीं है ; क्योंकि उस स्थिति में साक्षी को अज्ञानवश साधक कहना निरर्थक होगा। जिसको जिसकी अपेक्षा नहीं होती वह उसके अधीन नहीं होता है। अनादि साक्षी को अज्ञान की अपेक्षा न होने से वह उसके अधीन नहीं हो सकता है। अपेक्षा मानने पर पुन: अन्योन्याश्रयत्व होगा।

यह साक्षिप्रत्यक्ष भी अभ्युपगम से स्वीकृत किया गया है। वस्तुत: तो उस साक्षी को अशेष विशेषरहित मानने से साक्षि-प्रत्यक्ष मानना उपयुक्त नहीं है। अविशेष साक्षी की साधकता भी मायावादी के द्वारा साध्य ही है क्योंकि जो भी साधक, कारण फल या नित्यज्ञान हैं, वे सब जात्यादि विशेषवान् हैं, जो निर्विशेष शशविषाणादि हैं, वे साधक नहीं हैं, ऐसा मायावादी स्वीकृत करते हैं, अत: साक्षी भी निर्विशेष होने से साधक नहीं होगा। निर्विशेष का प्रामाण्य ही उपपन्न नहीं होता है।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि `साक्षी में आरोपित होने से ही अज्ञान की सिद्धि होती है, इसके अतिरिक्त उसका साधकत्व नहीं है तो ठीक नहीं है। ऐसा मानने पर तो साक्षी से अज्ञान की सिद्धि हो ही नहीं सकती है। `प्रकाश पर आश्रित हुआ अन्धकार प्रकाश से ही सिद्ध होता है`, इस अर्थ उपपादन नहीं किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त साक्षी में आरोपित हुआ अज्ञान साक्षी का विषय है या नहीं ? यदि वह साक्षी का विषय है तो साक्षी को विषयी मानना पड़ेगा और यदि विषय नहीं है तो साक्षित्व ही अनुपपन्न होगा, क्योंकि `साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्`[1] यह साक्षी का निर्वचन है। यदि सिद्ध-प्रामाण्य वाले प्रमाण की तरह साध्य-प्रामाण्य वाले प्रमाण को भी प्रयोगार्ह मानकर अविशेष साक्षी का साधकत्व सिद्ध करना चाहें, तो प्रश्न उठता है कि यह साधकत्व (१) सविशेष प्रमाण से सिद्ध करते हैं, या (२) अविशेष प्रमाण से ?

सविशेष के मिथ्या होने से प्रथम पक्ष तो स्वीकृत ही नहीं किया जा सकता है। द्वितीय पक्ष में पुनः दो विकल्प हो सकते हैं -- वह प्रमाण (१) साक्षी है या (२) अन्य कुछ। इनमें से प्रथम विकल्प मानने पर अन्योन्याश्रयत्व होगा, अर्थात् साक्षी के साधकत्व में अविशेष का साधकत्व सिद्ध होगा और अविशेष का साधकत्व सिद्ध होने पर साक्षी का साधकत्व सिद्ध होगा। साक्षी के अतिरिक्त अन्य का अभाव होने से द्वितीय विकल्प स्वीकृत ही नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार मिथ्याभूत का साधकत्व नहीं होता, इसलिये विश्वसत्यता को अस्वीकृत करने वाले तथा आत्मा के अतिरिक्त, सबका मिथ्यात्व प्रतिपादित करने वाले `नेह नानास्ति` इत्यादि वाक्यों की मिथ्या प्रसक्ति के कारण ये भी साधक नहीं होंगे। इसी प्रकार यदि चैतन्य के अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है तो सबके अन्तर्गत होने से कथा-व्यवहार के अङ्गभूत प्रमाणादि भी मिथ्या होंगे और विश्वसत्यता को स्वीकृत करने वाले एवं उसके मिथ्यात्व को स्वीकृत करने वाले मायावादी का वादित्व

---

१. अष्टाध्यायी ५।२।९१

भी नहीं होगा, क्योंकि मिथ्याभूत वस्तु साधन या बाधन का अङ्ग नहीं हो सकती है ।

<u>सत् के पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक भेद अनुपपन्न हैं</u>

अद्वैतवादी सत् के पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक भेद से तीन प्रकार मानते हैं । शुद्ध ब्रह्म परमार्थतः सत् है, उसको नाना रूपों में दृश्यमान एवं प्रमाण प्रमेय रूप व्यवहार का विषय बनने वाले जगत् की सत्ता व्यावहारिक एवं शुक्ति रजतादि की सत्ता प्रातिभासिक है । प्रत्यक्षादि प्रमाण व्यावहारिक सत् के अन्तर्गत हैं ।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों को व्यावहारिक सत् के अन्तर्गत रखकर भी उनका साधकत्व स्वीकृत नहीं किया जा सकता है । यदि व्यावहारिक सत् `सत्` ही हो तो मिथ्यात्व-प्रतिपादन व्याहत होगा और `व्यावहारिक` पद का प्रयोग भी व्यर्थ होगा, क्योंकि जिसका मिथ्यात्व सिद्ध कर रहे हैं वह भी तो व्यावहारिक सत् के ही अन्तर्गत है । और यदि व्यावहारिक सत् `असत्` है तो प्रमाण भी असत् होंगे ।

`सत्` का उक्त त्रैविध्य भी अनुपपन्न है । इस सत् त्रैविध्य का साधक प्रमाण भी तीन में से ही कोई होगा -- (१) परमार्थ सत् प्रमाण या (२) व्यावहारिक सत् प्रमाण या (३) प्रातिभासिक सत् प्रमाण । असत् के साधकत्व की ही तरह सत्त्रैविध्य भी किसी भी विकल्प से सिद्ध नहीं होता है ।

यदि प्रथम विकल्प माना जाय तो वह परमार्थतः सत् प्रमाण आत्मा होगा या उससे भिन्न कोई अन्य । उक्त प्रमाण को आत्मा से भिन्न मानने पर द्वैतापत्ति होगी, और आत्मा निर्विशेष होने से साधक नहीं होगा । व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत् का स्वरूप ही असिद्ध है ।

अनिर्वचनीयता की आलोचना

मायावादियों के अनुसार व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत् अनिर्वचनीय अर्थात् सदसद् विलक्षण है। वे यदि सत् होते तो बाधित न होते और असत् होते तो उनकी प्रतीति न होती[1]। अतः वे सत् और असत् दोनों से विलक्षण हैं। इस प्रकार व्यावहारिक प्रपञ्च के सद् विलक्षण होने से श्रुत्यादि से उसके मिथ्यात्व का समर्थन उपपन्न होगा, और असद् विलक्षण होने से उसके अन्तर्गत आने वाले प्रमाणादि का साधकत्व उपपन्न होगा।

व्यासतीर्थ ने उक्त अनिर्वचनीयता की विशद आलोचना की है। जगत् का यह सदसद् वैलक्षण्य किसी प्रमाण से सिद्ध होना चाहिए। वह या तो (१) सत् प्रमाण से, या (२) असत् प्रमाण से या (३) सदसद् विलक्षण प्रमाण से सिद्ध होगा।

इनमें से प्रथम विकल्प मानने पर द्वैतापत्ति होगी, क्योंकि मायावादी ब्रह्म व्यतिरिक्त किसी को सत् नहीं मानते हैं, असत् प्रमाण से किसी की सिद्धि मानी ही नहीं जा सकती है, एवं सदसद्वैलक्षण्य स्वयं असिद्ध है। सदसद्विलक्षण प्रमाण को स्वीकृत करके भी उससे मिथ्यात्व समर्थन और उसका साधकत्व सिद्ध नहीं हो सकते हैं। वह सद्विलक्षण होने पर असत् होगा, अतः साधक नहीं होगा तथा असद् विलक्षण होने पर सत् होगा एवं उसका मिथ्यात्व असम्भव होगा।

यदि जगत् का सर्व सत् पदार्थों से वैलक्षण्य या सर्व सत्वानधिकरणत्व साध्य हो तो सद्भेद उपपन्न होगा, अनेक सत् स्वीकृत किये बिना 'सर्व' शब्द का प्रयोग व्यर्थ होगा। सन्मात्रत्व अर्थात् अविवादातत्वविशेष

---

१. सत्वेन्न बाध्येत, असत्वेन्न प्रतीयेत।

सत्त्व तो ब्रह्म में है। इसलिए जगत् में स्ववैलक्षण्य होने से उसमें ब्रह्म से भी वैलक्षण्य होगा और इस प्रकार भेद की स्थिति होगी।

मायावादी जिस सत्व से जगत् का वैलक्षण्य सिद्ध करते हैं, वह या तो (१) सामान्य सत्त्व हो सकता है या (२) स्वरूप सत्त्व।

(१) सभी अर्थों में अनुगत सत्ता-सामान्य से जगत् का वैलक्षण्य या तदनाधारत्व मानने पर सद्भेद की स्थिति होगी। भेद की स्थिति अद्वैतवादी को इष्ट नहीं है। यदि अनेकत्व के न होने से सत्ता सामान्य नहीं है तो उसके अनधिकरणात्व की प्रतिज्ञा व्यर्थ है। जैसे अविद्यमान शश विषाण का किसी को अधिकरण नहीं माना जा सकता है। सत्तासामान्य का स्वीकार करने पर सद्भेद मानना ही पड़ेगा। क्योंकि सामान्य एक पर आश्रित नहीं हो सकता है।

(२) सत्तासामान्यानपेक्ष सन्मात्रत्व या स्वरूप सत्त्व ही यदि वह सत्व है, जिससे जगत् का वैलक्षण्य बताया जाता है तो स्वरूपसत्त्व तो ब्रह्म में भी है। अत: जगत् का ब्रह्म से भी वैलक्षण्य अर्थात् अब्रह्मत्व होगा।

इसके अतिरिक्त सत्ता सामान्य से रहित ब्रह्म में स्वरूप-सत्त्व तो है ही। किन्तु सत्त्व-सामान्य से रहित होने से उसे असत् या अनिर्वाच्य नहीं मानते हैं। इसी प्रकार सत्ता-सामान्य से रहित विश्व का भी असत्त्वादि हेतु न होने से तत्सत्तानधिकरणात्व नहीं होगा।

मायावादी अनिर्वचनीयत्व के दो लक्षण मानते हैं -- (१) सदसद्विलक्षणात्व और (२) ज्ञानबाध्यत्व। ये दोनों ही लक्षण अनुपपन्न हैं। मायावादी के अनुसार आकाशादि और शुक्ति रजतादि अनिर्वचनीय हैं। इनमें से आकाशादि सत् है और सत् रूप से प्रमित भी है; अत: उसका असद्विलक्षणात्व ही स्वयं सत् है। तथा शुक्ति रजतादि असत्

और असत् रूप से प्रमित है, इसलिए आरोपित शुक्ति रजतादि का सद्विलक्षणत्व ही स्वयं सत् है। आकाशादि में असद्विलक्षणत्व ही है, सद्विलक्षणत्व प्रमाण-बाधित है; तथा शुक्ति रजतादि में सद् विलक्षणत्व ही है। असद्-विलक्षणत्व प्रमाणविरुद्ध है। अत: उक्त लक्षण अनुपपन्न है।

अनिर्वचनीयत्व का 'ज्ञानबाध्यत्व' लक्षण भी अनुपपन्न है। ज्ञानबाध्यत्व के दो अर्थ हो सकते हैं -- (१) ज्ञाननिवर्त्यत्व या (२) ज्ञान-विनाश्यत्व। ज्ञान से निवर्त्य वे ही हो सकते हैं जो अज्ञानोपादानक हैं। आकाशादि जगत् सत् होने और शुक्ति रजतादि असत् होने से दोनों ही अविद्योपादानक नहीं है। अत: इनका ज्ञाननिवर्त्यत्व रूप बाध्यत्व अनुपपन्न है। इस प्रकार लक्षण में असंभवित्व दोष होगा।

यदि ज्ञानबाध्यत्व का अर्थ ज्ञानविनाश्यत्व लिया जाय तो भी वियदादि का ज्ञानबाध्यत्व सम्भव नहीं है। आकाशादि के नित्य होने और शुक्ति रजतादि के असत् होने से विनाश्यत्व अव्याप्त होगा।

असद्-विलक्षण प्रतीति की अनुपपन्नता

मायावादिमत के अनुसार शुक्तिरजतादि की प्रतीति होती है, इसलिये असद् विलक्षण है, तथा उनका बाध होता है इसलिये सद् विलक्षण है। जयतीर्थ ने सदसद् विलक्षणत्व का सामान्य रूप से खण्डन करके असद्-विलक्षण की प्रतीति को पुन: विशिष्टत: अनुपपन्न बताया है।

शुक्ति रजतादि की प्रतीति असद् विलक्षण रूप से नहीं होती है। असद् विलक्षण की प्रतीति के लिये असत् की प्रतीत भी आवश्यक है। यदि असद् विलक्षण रजत की प्रतीति होती है तो असत् की प्रतीति भी स्वीकृत करनी ही पड़ेगी। जो पुरुष जिस वस्तु से विलक्षण का ज्ञान करता है, उसे उस वस्तु का भी ज्ञान रहता है, जैसे घट से विलक्षण पट का ज्ञान करने वाले व्यक्ति को घट का भी ज्ञान रहता है। वैलक्षण्यज्ञान के प्रति प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है। कारण के अभाव में कार्य नहीं होता है। अत: प्रतियोगी के ज्ञान के बिना वैलक्षण्य ज्ञान नहीं हो सकता है। इस प्रकार असद्वैलक्षण्य की प्रतीति होने के लिये असत् की प्रतीति का निवारण नहीं किया जा सकता है।

जो व्यक्ति जिस वस्तु को नहीं जानता वह उसके सम्बन्धित्व से किसी का प्रतिषेध नहीं कर सकता है, जैसे 'घट में शुक्लता नहीं है', इस प्रकार प्रतिषेध करने वाला घट प्रतीतिमान् होता है। अत: असत् के सम्बन्धी धर्म का प्रतिषेध करने वाला असत् प्रतीतिमान् होना चाहिए।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि असत्प्रतीति के निषेध-सामर्थ्य से उसकी असत् प्रतीति के अभाव का अवधारण होता है, अत: उक्त अनुमान का

विषय बाधित है, तो ठीक नहीं है। इस प्रकार बाधितविषयता मानने पर तो 'मैं मूक हूं' इस वाक्य से वचन-निषेध-सामर्थ्य से उसके वचनाभाव का अवधारण होने से वचन-प्रतीति भी बाधित होगी।

शुक्ति रजतादि को अनिर्वचनीय मानने वाले मायावादी 'इदम्' और 'रजतम्' का तादात्म्यावभास स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार अधिष्ठान शुक्त्यादि का संसृष्ट रूप से मिथ्यात्व होने पर भी स्वरूपतः सत्त्व ही है और अध्यस्त रजतादि का संसृष्ट रूप से एवं स्वरूप से मिथ्यात्व है।[1] शुक्ति के 'इदम्' अंश का रजतत्व संसर्ग और रजत का 'इदन्ता' संसर्ग रूप अन्यथात्व असत् नहीं है।

उक्त अन्यथात्व यदि असत् नहीं है तो वह या तो सत् होगा या अनिर्वचनीय। यदि वह सत् होता तो शुक्तिकादि की तरह भ्रान्ति में भी प्रतीत होता; किन्तु ऐसा नहीं होता है, इसलिए वह सत् नहीं है।

उक्त संसर्ग को अनिर्वचनीय मानने पर अनवस्था होगी। 'संसर्गद्वय अनिर्वचनीय है' इसका अर्थ या तो (१) व्यावहारिक माना जाय या (२) प्रातिभासिक।

(१) प्रथम विकल्प नहीं माना जा सकता है। इसे व्यावहारिक मानने पर रजत का भी व्यावहारिकत्व प्राप्त होगा।

63b (२) द्वितीय विकल्प में भी उसकी प्रतीति दो प्रकार से मानी जा सकती

---

१. 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य लोकव्यवहारः' -- शंकर का ब्र० सू० सम्बन्ध भाष्य

है -- प्रातिभासिकतया या व्यावहारिकतया । प्रातिभासिकतया अर्थ की प्रतीति मानने पर प्रवृत्ति का अभाव होगा ।

व्यावहारिकतया प्रतीति में पुनः दो विकल्प हो सकते हैं -- वह प्रतीति (१) सत् है या (२) असत् ।

उक्त प्रतीति को सत् मानने पर प्रातिभासिकत्व की अनुपपत्ति होगी, और असत् मानने पर अपरोक्षतया और सत्त्वेन असत् की प्रतीति का प्रसंग होगा ।

यदि वह व्यावहारिकता भी अनिर्वचनीया है तो पुनः `अनिर्वचनीयता का क्या अर्थ है ? ` इसकी आवृत्ति होने से अनवस्था होगी । यह अपर्यवसित परम्परा सिद्ध-विषया नहीं है, जिससे इसे बीजाङ्कुर परम्परा के समान अदोष माना जा सके । `इसमें कोई प्रतिबन्धक नहीं है, इसलिये यह परम्परा अदोष है `-- ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्व-पूर्व आरोप के अनुपपन्न होने से उत्तर-उत्तर आरोप अनुपपन्न होगा और प्रवृत्ति भी अनुपपन्न होगी । `सभी आरोप एक काल में ही होते हैं `-- ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सभी ज्ञान एककालिक नहीं होते और अधिष्ठान-सिद्धि के उत्तरकाल में ही आरोप होता है ।

समीक्षा

प्रकृति या जगत् के मूल के विषय में जयतीर्थ के विचार न्याय के विचारों से अधिक मेल खाते हैं। यद्यपि प्रकृति और महदादि को उन्होंने सांख्य के समान प्रतिपादित किया है, किन्तु सूक्ष्म भूतों को नित्य मानते हुए उनकी पराधीन विशेषाप्ति को ही उनकी उत्पत्ति कहा है। परन्तु जहाँ न्याय पृथिवी आदि भूतों को परमाणु रूप से नित्य और जगद् का मूल मानता है, वहाँ जयतीर्थ प्रकृति, महत्, अहंकार आदि को सांख्य के समान प्रतिपादित किया है। अतः यह कहा जा सकता है कि द्वैत परम्परा में मूल प्रकृति के विषय में न्याय और सांख्य के विचारों का समन्वय किया है।

निष्कर्ष यह प्राप्त होता है कि जयतीर्थ महदादि से भूत पर्यन्त किसी को भी उत्पत्ति अभूत्वाभवनलक्षणा नहीं मानते अपितु विशेषाप्ति-लक्षणा ही मानते हैं। आकाश और वायु को उन्होंने दो प्रकार का माना है, अव्याकृत आकाश और स्थूल आकाश। अव्याकृत आकाश नित्य है और स्थूल आकाश की उत्पत्ति होती है। यह द्विरूपता समीचीन प्रतीत नहीं होती है।

जगत् के मूल के सन्दर्भ में अद्वैत वेदान्त में अभिमत अज्ञान-सिद्धान्त का खण्डन तर्कसंगत है। जयतीर्थ ने भावरूप अज्ञान स्वीकृत किया है, किन्तु वह सदसद् विलक्षण या अनिर्वचनीय नहीं है। उसे अयथार्थ ज्ञान कहा जा सकता है। बन्ध-मिथ्यात्व और सत् के त्रैविध्य की आलोचना भी समीचीन ही है। अद्वैत मत में अनुमान और आगम प्रमाणों से ही जगत् और बन्ध का मिथ्यात्व सिद्ध करते हैं, किन्तु ये प्रमाण ही जब मिथ्या हैं तो वे साधक कैसे हो सकते हैं, मिथ्या शुक्तिरजतादि कभी साधक नहीं होते हैं।

-0-

तृतीय अध्याय

-0-

पुंस - विचार

तृतीय अध्याय
-0-

ब्रह्म-विचार

सम्पूर्ण भारतीय आस्तिक दर्शनों में 'ब्रह्म' को सर्वोत्कृष्ट शाश्वत सत्ता के रूप में स्वीकृत किया गया है। वास्तव में इस नाना रूप जगत् को देखकर सहज ही मस्तिष्क में यह विचार उठता है कि इस नानाविध सृष्टि को उत्पन्न करने वाला, उसका पालन करने वाला और विनाश करने वाला कौन है? उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के इस सतत् नियम को चलाने वाली कोई ऐसी सत्ता अवश्य है, जो बिना व्यवधान के जगत् के सारे व्यापारों को अपनी विशिष्ट शक्ति से प्रेरित करती है। वह सत्ता अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमती एवं शाश्वत होनी चाहिए। उस सर्वोत्कृष्ट जगन्नियन्त्री सत्ता को ही ब्रह्म, ईश्वर आदि नामों से कहा जाता है।

यद्यपि शाङ्कर मत में ब्रह्म को परमसत्ता के रूप में स्वीकृत करते हुए ब्रह्म और ईश्वर के स्वरूपों में कुछ अन्तर प्रतिपादित किया गया है, किन्तु माध्व-मत में ब्रह्म, ईश्वर, नारायण, विष्णु आदि में कोई भेद नहीं है। ये सब उसी परम सत्ता के नाम हैं। अनुव्याख्यान में मङ्गलाचरण में मध्वाचार्य ने ब्रह्म को 'नारायण' पद से अभिहित करते हुए उसका स्वरूप प्रस्तुत किया है[1]। जयतीर्थ ने 'न्यायसुधा' में ब्रह्म के मध्वाभिमत स्वरूप को विशदरूप से प्रस्तुत किया है।

ब्रह्म सगुण है —

द्वैतमत में ब्रह्म को समस्त दिव्य एवं सर्वोत्कृष्ट गुणों से

---

1. 'नारायणं निखिलपूर्णगुणैकदेहं
 निर्दोषमाप्यतममप्यखिलैः सुवाक्यैः।'
 अनुव्याख्यान- मङ्गलाचरण

अलङ्कृत स्वीकृत किया गया है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र, अद्वितीय, दयालु और ज्ञान और मोक्ष देने वाला है[1]। शंकर के ब्रह्म की तरह वह निर्गुण, निर्विशेष, ज्ञानमात्र या चिन्मात्र नहीं है। न्यायसुधा में अनुव्याख्यान के मङ्गलाचरण की व्याख्या करते हुए 'नारायण' के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। ब्रह्म की सगुणता उसकी उत्तम गुणवत्ता है। वे देहवान् हैं। देहवान् होने पर ही उनमें ज्ञानादि गुण स्वीकृत किये जा सकते हैं। ब्रह्म में ये गुण सर्वोत्कृष्ट और अद्वितीय रूप से विद्यमान हैं। अन्य देवताओं या जीवों में यद्यपि ज्ञानादि गुण होते हैं किन्तु अल्प, सीमित और सातिशय रूप से। इसके साथ जीवों में इन गुणों के साथ ही दु:खादिदोष भी रहते हैं, किन्तु ब्रह्म सकल-गुणपूर्ण और सकलदोष रहित है।

यहाँ पर यह शङ्का उठती है कि ब्रह्म यदि देहवान् है तो ज्ञानादि गुणों के साथ उसमें दु:खादि दोष भी होंगे। इन दोषों के होने से ब्रह्म सब जीवों की तरह सुख दु:खादि को भोगने वाला होगा, और ऐसी स्थिति में वह स्वतन्त्र या सर्वोत्कृष्ट नहीं होगा। इसका समाधान करते हुए जयतीर्थ का कथन है कि ब्रह्म देहवत्त्वाद् ज्ञानादि गुणों से पूर्ण तो है, किन्तु उसमें दोषों का सर्वथा अभाव है। वह निखिलगुण पूर्ण मात्र है, आनन्दादि गुण उसमें पूर्ण रूप में विद्यमान हैं। ये गुण ही उसका देह हैं, प्राकृत पुरुषों की तरह उसका देह नहीं है।

जयतीर्थ के उक्त व्याख्यान पर यह आक्षेप नहीं किया जा सकता कि आनन्दादि गुणों के साथ दु:खादि दोषों की भी स्थिति होती है। क्योंकि सुख दु:ख की सहस्थिति प्राकृत देहों में होती है किन्तु ब्रह्म का तो गुण

---

1. अज्ञानां ज्ञानदो विष्णुर्ज्ञानिनां मोक्षदश्च सः
अनुव्याख्यान, पृ० १

ही देह या स्वरूप हैं। स्वरूपत: सुख में दु:ख की स्थिति मानना उपयुक्त नहीं है तथा दु:खादि की स्थिति होने पर आनन्दादि पूर्ण नहीं हो सकते। ब्रह्म में आनन्दादि गुणों की पूर्णता है।

उक्त व्याख्या मानने पर 'पश्यत्यचक्षु: स शृणोत्यकर्ण:' इत्यादि वाक्यार्थ भी संगत होता है। ब्रह्म को दर्शनादि के लिए प्राकृत देहियों की तरह नेत्रादि इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है। 'नारायण' पद की इस प्रकार से व्युत्पत्ति बताते हुए जयतीर्थ ने ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट किया है[1] —

(१) नरा: दोषा:, तद्विरुद्धत्वाद् गुणा नारास्तदयनत्वान्नारायण:

(२) नराणां दोषाणामयनं न भवतीति वा

(३) उपकारित्वादिना नराणामिमे नारा: वेदादय:। प्रतिपाद्यतया तदयनत्वाद्वा

(४) नराणामिदं नारम्, उद्भवादिदातृतया, तस्यायनत्वाद्वा

(५) नरसमूहो नारम्बन्धतया तदयनत्वाद्वा

(६) नराणामधिपतिर्नारो मुख्यवायु: परमप्रेमास्पदतया तस्यायनत्वाद्वा

ब्रह्म के निर्गुणत्व का खण्डन

अद्वैत मत में ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का बोध से ऐक्य प्रतिपादित किया गया है। जयतीर्थ ने ब्रह्म के निर्गुणत्व को सर्वथा अनुपपन्न बताया है।

निर्गुण का निरूपण ही अशक्य है। उस निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को समझने के लिये दो विकल्प हो सकते हैं — निर्गुण ब्रह्म सगुण ईश्वर से (१) भिन्न है या (२) अभिन्न।

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० २

द्वितीय विकल्प मानने पर उसके भी सगुणत्व का प्रसंग होने से निर्गुणत्व का व्याघात होगा।

प्रथम विकल्प मानने पर यदि निर्गुण सगुण से अत्यन्त भिन्न हो तो इस सगुण के नित्य सगुण होने से निर्गुण उससे नित्य-भिन्न होगा ; और ऐसा होने पर कभी भी कैवल्य सम्भव नहीं होगा।

'ब्रह्म स्वभावत: निर्गुण है किन्तु अज्ञानवश उसमें मिथ्या गुणों का आरोप करके सगुण कहा जाता है जिस प्रकार आकाश में नीलिमा का आरोप करके उसे नीला कहा जाता है। यह आरोप प्रवाह अनादि और नित्य है; अत: ब्रह्म का सगुणत्व हमें अनिष्ट नहीं है। और इस प्रकार मिथ्या— भूत विरोधी आकार का परित्याग करके उसका बोध से ऐक्यकथन भी अनुपपन्न नहीं है।'

पूर्वपक्ष का उक्त कथन उपपन्न नहीं है। उनके मिथ्या शब्द का अर्थ या तो (१) असत् या (२) अनिर्वाच्य हो सकता है।

इनमें से प्रथम विकल्प मायावादी के मत में स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि वे मिथ्या को असद् से विलक्षण मानते हैं। तथा अनिर्वाच्यता का निराकरण पूर्व अध्याय में किया जा चुका है।

ब्रह्म स्वतन्त्र और अद्वितीय है—

स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र द्विविध सत्ताओं में ब्रह्म या ईश्वर ही सर्वथा परमस्वतन्त्र सत्ता है ; अन्य सभी जीव, प्रकृति आदि उसके अधीन हैं। सर्वथा स्वतन्त्र ब्रह्म ही जगत् के बन्धादि में समर्थ हो सकता है। उसकी सर्वोत्कृष्ट

स्वतन्त्रता न्यायादि मतों में स्वीकृत की गयी है। उसकी इच्छा से ही उसकी विशिष्ट शक्ति माया जगत् की सृष्ट्यादि करती है। उसकी इच्छा के बिना कोई भी कार्य नहीं हो सकता है। जीव भी यद्यपि नित्य कर्ता और भोक्ता है, किन्तु वे सर्वथा ईश्वर के अधीन हैं। उसकी प्रेरणा से वे कर्मों में प्रवृत्त होते हैं।

ब्रह्म अद्वितीय है। उसके समान और कोई दूसरी सत्ता नहीं है। उसके अतिरिक्त सभी जीव आदि अवर या अधम हैं। ब्रह्मा रुद्र आदि भी उससे अवर और उसके अधीन हैं। यदि ईश्वर के समान कोई दूसरी सत्ता होती तो सृष्ट्यादि में अव्यवस्था होती। एक से अधिक सम स्वतन्त्र रहने पर यदि एक की इच्छा सृष्टि करने की होती, उस समय दूसरे की इच्छा प्रलय की हो सकती थी; यदि जीव भक्ति से एक को प्रसन्न कर लेता, उस समय दूसरा उदासीन हो सकता था। चूंकि जगत् की सम्पूर्ण व्यवस्थाएं एक समान सतत नियम पर चल रही हैं, अत: ब्रह्म एक ही सर्वोत्कृष्ट सत्ता माना है।

एकमेवाद्वितीयम् —

श्रुतियों में 'एकमेवाद्वितीयम्'[1] इत्यादि वाक्यों का यही अभिप्राय है। अद्वैतवादी इस श्रुति को ब्रह्म व्यतिरिक्त अन्य सत्ता का निषेधपरक व्याख्यात करते हैं। उनके अनुसार 'एकम्' से ब्रह्म का एकत्व, 'एव' से उसका निश्चय और 'अद्वितीयम्' पद से द्वितीय सत्ता का निषेध विवक्षित है।

किन्तु उक्त अद्वैतपरक व्याख्या उचित नहीं है। 'एकम्' और 'एव' की व्याख्या में तो कोई असंगति नहीं है किन्तु 'अद्वितीयम्' की व्याख्या अनुपपन्न है। अद्वितीय का अर्थ सामान्यतया भी लिया जाता है,

---

१. छा० उ० ६।२।१

`जिसके समान दूसरा कोई न हो' । अतः इसका समुचित अर्थ है, `समाधिकरहित'। इससे द्वितीय सत्ता का निषेध सूचित नहीं होता है । जैसे — `एकमेवाद्वितीयोऽसौ प्रणवो मन्त्र उच्यते ।' इस वाक्य में प्रणव के अतिरिक्त अन्य मन्त्र की सत्ता का निषेध नहीं, अपितु उसकी सर्वोत्कृष्टता विवक्षित है ।

नेहनानास्ति किञ्चन का अर्थ —

मायावादी `नेहनाना'[1] इत्यादि श्रुति वाक्य को भी ब्रह्म-व्यतिरिक्त-सत्ता-निषेधपरक व्याख्यात करते हैं । उनके अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत् है, उसके अतिरिक्त अन्य सभी व्यावहारिक जगत् के पदार्थों की सत्ता त्रिकालासत् है । उनकी सत्ता की प्रतीति मिथ्या है । मायावादियों की उक्त व्याख्या अनुपपन्न है । यदि `ब्रह्म ही एकमात्र है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है', यह अर्थ अभिप्रेत होता तो `नेह किञ्चन' इतना ही कथन होना चाहिए था । ऐसी स्थिति में `नाना' शब्द का वैयर्थ्य होगा। अतः इस वाक्य से ब्रह्म-व्यतिरिक्त-सत्ता का निषेध नहीं माना जा सकता है ।

वस्तुतः इस वाक्य से ब्रह्म के धर्मों का उससे भिन्नत्व निषिद्ध है । ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि धर्म उससे भिन्न नहीं है, अपितु उसका स्वरूप ही है । यही उक्त श्रुति का अभिप्राय है ।

ब्रह्म-व्यतिरिक्त अन्य सत्तामात्र का निषेध सर्वथा अनुपपन्न है । ब्रह्म व्यतिरिक्त सत्ता का निषेध करने वाले ये वाक्य भी या तो (१) सत् होंगे या (२) असत् । यदि ये वाक्य सत् हैं तो इनसे ब्रह्म-व्यतिरिक्त सत्ता का निषेध व्याहत होगा, क्योंकि ब्रह्म से व्यतिरिक्त इन वाक्यों की सत्ता

---

१. बृ० उ० ४ । ४ । १९

निश्चित होती है तथा ब्रह्म व्यतिरिक्त होने से यदि ये वाक्य भी असत् हैं,तो ये किसी अर्थ के साधक नहीं होंगे ।

ब्रह्म सर्वज्ञ है —

आनन्दादि गुणों की तरह ही ज्ञान गुण भी ब्रह्म में पूर्ण रूप में है । वह सम्पूर्ण देश, काल, शास्त्रादि को सविशेष जानता है । सर्वथा सर्वज्ञ ही इस नानाविध सृष्टि का नियामक कर्ता हो सकता है । विभिन्न देशों व कालों में नियमत: तत्तद् पदार्थों की सृष्टि सीमित ज्ञान वाला जीव नहीं कर सकता है ।

ब्रह्म परम गुरु है । वही वेदादि शास्त्रों का परम उपदेष्टा है । वही ईश्वर बादरायण व्यास के रूप में अवतीर्ण हुए[1] । उन्होंने कृपा परवश होकर बादरायण के रूप में ब्रह्मा आदि को ब्रह्ममीमांसा शास्त्र का उपदेश किया । बादरायण व्यास सम्प्रदायमात्र के प्रवर्तक नहीं अपितु अशेषार्थप्रतिपादक वेद,शास्त्र और महाभारतादि के उपदेष्टा हैं । ब्रह्मा रुद्रादि जगत् को तत्त्व का उपदेश देने वाले और सर्वज्ञ कल्प हैं । ब्रह्म उन ब्रह्मा आदि को तत्त्व का उपदेश करने वाले हैं, यह `ब्रह्मरुद्रादिदेवेषु` इस आगम से ज्ञात होता है । अत: वह सर्वज्ञ है ।

शास्त्रादि का प्रभव होने से भी वह सर्वज्ञ है । जो जितने अर्थ के प्रतिपादक आगम का प्रभव होता है वह उतने अर्थ को तत्त्वत: जानता है । भगवान् अशेषार्थ के प्रतिपादक आगम का प्रभव है, ऐसा `अनुक्तं पञ्चभिर्वेदैः` `उत्सन्नान् भगवान् वेदान्` इत्यादि वचनों से अवगत होता है । अत: वह

---

1. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० २

अवश्य ही सर्वज्ञ और पटुकरण है। जो बहुत से आगम का प्रभव होता है वह अन्य निमित्त के न होने पर पटुकरण देखा जाता है। भगवान् अपार वेदादि का प्रभव है, अत: अवश्य ही पटुकरण होगा।

'य: सर्वज्ञ: सर्ववित्' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से उसकी सर्वज्ञता स्पष्ट रूप से कही जाती है।

ब्रह्म नित्य है —

ब्रह्म सर्वोत्कृष्ट एवं परमस्वतन्त्र सत्ता है, अतएव नित्य है। नित्य न रहने वाली कोई सत्ता सर्वोत्कृष्ट एवं परमस्वतन्त्र नहीं हो सकती है। इसके अतिरिक्त वह इस नानारूप जगत् के जन्मादि का कर्ता है। यह जगत्-कर्तृत्व नित्य में ही उपपन्न होता है। यद्यपि जीव भी नित्य है और चेतन है किन्तु अवर एवं परतन्त्र है। ब्रह्म उन जीवों के प्रारब्धकर्मानुसार सुखदु:खादि देने वाला और उनका नियन्ता है।

-0-

ब्रह्म जगत् के जन्मादि का कारण है —

दृश्यमान नानारूप जगत् का कर्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र ही हो सकता है। उसे अज्ञानादि समस्त दोषों से रहित होना चाहिए। अज्ञान, अल्पशक्तिमत्त्व, पारतन्त्र्यादि दोषों से युक्त रहने वाला कोई जगत् का कर्ता नहीं हो सकता है, जैसे हमारे जैसे जीव में जगत्कर्तृत्व उपपन्न नहीं है। सर्वथा निर्दोष और सकलगुण-पूर्ण भगवान् विष्णु ही हैं। अत: उन्हीं को नानाविध जगत् का कर्ता माना जा सकता है।

ब्रह्मसूत्र में `जन्माद्यस्य यत:` सूत्र ब्रह्म का लक्षण बताता है। शंकरादि सभी भाष्यकार इसे ब्रह्म का लक्षण मानते हैं। शंकर ने इसे ब्रह्म का तटस्थ लक्षण माना है, क्योंकि वे जगत् को अज्ञान कल्पित, मिथ्या, आरोपित या भ्रम मानते हैं, किन्तु उस आरोप का अधिष्ठान ब्रह्म ही है, बिना यथार्थ अधिष्ठान के आरोप सम्भव नहीं है। वस्तुत: जगत् जैसी कोई सत्ता नहीं है जिससे ब्रह्म में स्वरूपत: कर्तृत्व उपपन्न हो। अत: उक्त लक्षण ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है।

द्वैत वेदान्त में शंकर के मिथ्यात्वादि का प्रबल खण्डन किया गया है। जयतीर्थ ने शंकर के उक्त मत की विशद आलोचना करते हुए इस सूत्र को विष्णु का स्वलक्षण माना है।

भिन्न-भिन्न श्रुतिवाक्यों में विष्णु को विभिन्न नामों से कहा गया है। द्वैत सम्प्रदाय में ब्रह्म, नारायण, ईश्वर या परमेश्वर नामों से विष्णु ही कथित हैं। वही विष्णु इस जगत् के जन्म, स्थिति और संहार

के कारण है । `तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म`, `य आत्मा सो न्वेष्टव्य:` इत्यादि श्रुतियों में `ब्रह्म`, `आत्मा` आदि पदों से ईश्वर या विष्णु ही वाच्य हैं । इन श्रुतियों में विष्णु से ही जगत् की सृष्ट्यादि कथित है, यह बात `यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते` येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति`[1] इत्यादि पूर्वोत्तर वाक्यों से ज्ञात होती है ।

ब्रह्मा, रुद्रादि जगत् के जन्मादि कर्ता नहीं हैं--

ब्रह्मा, रुद्र आदि देवताओं में जगत् का कर्तृत्व नहीं हो सकता । यद्यपि `हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे`, `एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे` `ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति` इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्मा, शिव आदि का जन्मादि-कर्तृत्व प्रतीत होता है, किन्तु इन श्रुतियों में वस्तुत:, विष्णु ही जगत् जन्मादि के कर्ता रूप से कथित हैं, ब्रह्मा रुद्र आदि नहीं, क्योंकि नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति `यो देवानाम् नामधा एक एव` इत्यादि श्रुतियों के अनुसार हिरण्यगर्भ इत्यादि नाम विष्णु के ही वाचक हैं ।

`जन्माद्यस्य यत:` ब्रह्म का स्वलक्षण है --

मायावादी इसे ब्रह्म का तटस्थ लक्षण कहते हैं, यह बताया ही जा चुका है । वे जगत् के जन्मादि कारण के तीन विकल्प मानते हैं --

(१) माया-विशिष्ट ब्रह्म जगत् का कारण है ।

(२) मायाशक्तिमान् ब्रह्म जगत् का कारण है ।

(३) जगत् का कारण माया है, किन्तु उसका आश्रय होने के कारण ब्रह्म को जगत् का कारण कहा जाता है ।

---

१. तै० उ० ३ ।१

इनमें से कोई भी विकल्प स्वीकार करने पर ब्रह्म का जगत्-कारणत्व बाह्य ही सिद्ध होता है, स्वरूपान्तर्गत नहीं ।

जयतीर्थ ने इसे ब्रह्म का स्वलक्षण मानते हुए अपने मत के समर्थन में श्रीमद्भागवत का श्लोक उद्धृत किया है । ब्रह्मसूत्रकार भगवान् वेदव्यास ने स्वयं ही श्रीमद्भागवत में जगत्कर्तृत्व को ब्रह्म का स्वलक्षण बताया है —

'यत्तत्परं ज्योतिरनन्तमद्वयं स्वसंस्थया नित्यनिरस्तकल्मषम् ।
ब्रह्माख्यमस्योद्भवनादिहेतुभिः स्वलक्षणैर्लक्षितभावनिर्वृतम् ।।'

यदि कहा जाय कि उक्त श्लोक में स्वलक्षण का कथन ध्यान-विषयक है, ज्ञान विषयक नहीं है-तो ठीक नहीं है । यहां प्रश्न उठता है कि ध्यान क्या ज्ञान के विपरीत होता है ? यदि ऐसा हो तो ध्यानार्थी को श्रवण और मनन की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए क्योंकि श्रवण और मनन तो ज्ञान के लिये अपेक्षित हैं । किन्तु ऐसा नहीं है, श्रवण और मनन के बिना ध्यान संभव नहीं है । इसके अतिरिक्त 'तटस्थ लक्षण का स्वरूपतया ध्यान करना चाहिए' ऐसी विधि या प्रयोजन कहीं नहीं बताया गया है ।

किसी का लक्षण उसका सजातीय और विजातीय से व्यवच्छेद बताने के लिए होता है । जगज्जन्मादिकारणत्वरूप लक्षण से सूत्रकार ने ब्रह्म को सजातीय जीव और विजातीय जड़ से व्यवच्छेद बतलाया है ।

'ब्रह्ममीमांसा सूत्र ब्रह्म और जीव का ऐक्य बताने वाला है । अतः ब्रह्मजीवैक्य वादी मत में ऐक्य का निराकरण करने वाले सूत्र का आरम्भ नहीं हो सकता है । यह लक्षण केवल जड़ की व्यावृत्ति के लिये है, जीव की व्यावृत्ति के लिये नहीं है' — ऐसा नहीं कहा जा सकता है । जिसका लक्षण होता है,वह उससे व्यतिरिक्त सभी से उसका व्यवच्छेद करता है, एवं जिसका लक्षण नहीं होता,

वह समस्त उस लक्षण से व्यावर्त्य होता है। ऐसा न होने पर लक्षण में अव्याप्तित्व का प्रसंग होगा। चूंकि उक्त लक्षण जीव का लक्षण नहीं है, अतः जीव अवश्य ही उससे व्यावर्त्य होगा। इस लक्षण की जीव में अति-व्याप्ति की आशङ्का करके ही सूत्रकार ने "इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः"[1] सूत्र से उसका निराकरण किया है। इस लक्षण से जीव की व्यावृत्ति न होने पर उक्त निराकरण असंगत हो जायगा।

मायावादी मत में लक्षण अनुपपन्न है--

यद्यपि अद्वैत मत में भी जीव को इस लक्षण से व्यावर्त्य माना गया है। उसके अनुसार सर्वज्ञ सर्वशक्ति के अतिरिक्त अन्य परिकल्पित अचेतन प्रधानादि से और परिच्छिन्न ज्ञान क्रिया-शक्ति वाले संसारी हिरण्य-गर्भादि से जगत् की उत्पत्त्यादि सम्भव नहीं हैं। किन्तु ऐसा स्वीकृत करने पर भी मायावादियों के मत में ब्रह्म के लक्षण सूत्र का आरम्भ उपपन्न नहीं होता है। लक्षण वाक्य साक्षात् लक्ष्य का असाधारण धर्मसंसर्ग प्रतिपादित करता हुआ उससे इतर की व्यावृत्ति का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार इस लक्षण वाक्य से भी ब्रह्म का जगज्जन्मादिकारणत्वेन उसके अविनाभूत सर्वज्ञत्वादि से संसर्ग प्रतिपादित होना चाहिए। और ऐसा मानने पर ब्रह्म का निर्विशेषत्व निषिद्ध हो जायगा। अतः निर्विशेषत्ववादी के मत में निर्विशेषत्व का निषेध करने वाले सूत्र का आरम्भ उपपन्न नहीं है।

पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त अनुपपत्ति तो तब हो सकती थी यदि यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण होता, किन्तु उसे तटस्थ लक्षण मानने पर हमारा अभिमत लक्षण उपपन्न है। श्रीमद्भागवत में स्वरूपलक्षण

---

१. ब्र० सू० २।१।२१

का कथन नहीं है । `जिससे इस जगत् की उत्पत्त्यादि होती है, वह माया है और उसका आश्रय ब्रह्म है' — ऐसा अर्थ मानने पर भागवतोक्त स्वरूपलक्षण उपपन्न होता है ।

उक्त कथन उपयुक्त नहीं है । `विश्व ब्रह्म का विवर्त है'-- इसका खण्डन जगत्कारणत्व विवेचन में विशद रूप से किया जायेगा । किन्तु यहां पर `जगत् के जन्मादि कारणत्व को तटस्थ लक्षण बताते हुए लक्षणया ब्रह्म का प्रतिपादन है'-- यह मत अङ्गीकृत नहीं किया जा सकता है । मुख्यार्थ के न होने पर ही लक्षणा का आश्रय लिया जाता है । किन्तु ब्रह्म के मुख्यतया जगत्-कारणत्व का कोई बाधक नहीं है । प्रत्यक्ष का विषय न होने से वह उसका बाधक नहीं होगा । अनुमान शास्त्रप्रमाण से बाधित है । जीव और ब्रह्म के ऐक्य की अन्यथानुपपत्ति आवीकरणीय है । जीव और ब्रह्म के एकत्व के परिरक्षण के लिये यथाश्रुत सूत्रार्थ का परित्याग करके लक्षणा का आश्रय लेने की अपेक्षा जीव और ब्रह्म के भेद को अङ्गीकृत करते हुए मुख्यार्थ को स्वीकृत करना अधिक समीचीन है । जीव और ब्रह्म का भेद अप्रामाणिक है । इसका विवेचन जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में किया जायेगा ।

ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है —

ब्रह्म जगत् के जन्मादि का कारण है, यह तो बताया ही जा चुका है । किन्तु वह जगत् का निमित्त कारण है, उपादान नहीं, जिस प्रकार कुम्भकार घटादि के प्रति निमित्त कारण होता है । कुम्भकार के द्वारा घटादि की उत्पत्ति आयाससाध्य होती है, किन्तु जगत् ईश्वर के द्वारा आयाससाध्य नहीं है । उसकी इच्छा मात्र से उसकी विशिष्ट शक्ति माया प्रकृति आदि को प्रेरित करके जगत् की सृष्टि करती है ।

ब्रह्म को जगत् का उपादान मानने पर उसमें विकारित्व आदि

दोषों की प्रसक्ति होगी । इसके अतिरिक्त जगत् चेतनाचेतन-रूप है । उसका चेतन अंश जीव तो नित्य है । शेष अचेतन अंश का उपादान अचेतन ही होना चाहिए । चेतन उपादान से अचेतन कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है,क्योंकि उपादान के गुण ही कार्य में अनुवर्तित होते हैं ।

जगत् की उत्पत्ति में ब्रह्म का निमित्तत्व भी उसी प्रकार का है जिस प्रकार पुत्र की उत्पत्ति में पिता का होता है । पिता के द्वारा खाया गया अन्नादि अचेतन अंश पुत्रादि के अचेतन अंश के प्रति उपादान कारण होता है, एवं चेतन अंश निमित्त होता है । उसी प्रकार ईश्वर के द्वारा प्रलय में निगीर्ण किये गये प्रकृत्यादि के अचेतन परमाणु, जगत् के अचेतन अंश की उत्पत्ति में उपादान कारण होते है एवम् ईश्वर उसमें निमित्त होता है ।

'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च'[1] इत्यादि श्रुति में ऊर्णनाभि का दृष्टान्त भी निमित्तत्व बताने वाला है, उपादानत्व नहीं । ऊर्णनाभि के द्वारा खाया गया अचेतन पदार्थ अचेतन तन्तु के प्रति उपादान होता है, चेतन अंश जीव निमित्त मात्र होता है । उसके जीव को तन्तुओं का उपादान नहीं कहा जा सकता है । ब्रह्म के उपादानत्व का खण्डन विशद रूप से जगत्-कारण-विवेचन में किया जायेगा ।

परमेश्वर की प्रवृत्ति केवल लीला से होती है —

जगत् के जन्मादि में परमेश्वर की प्रवृत्ति का निमित्त कोई प्रयोजन विशेष नहीं, अपितु लीलामात्र है । किसी की भी प्रवृत्ति चार प्रकार से हो सकती है -- (१) सुख के उद्रेक से (२) दु:ख के उद्रेक से,(३) सुख के प्रति

---

१. मु० उ० १।१।७

राग से और (४) दु:ख के प्रति द्वेष से। उन्मत्त का नर्तन सुखोद्रेक से होता है। उसे विवेक नहीं होता, अत: वह यह सोचकर नृत्य में प्रवृत्त नहीं होता कि यह सुख का साधन है, किन्तु सुख का उद्रेक ही उसकी प्रवृत्ति का हेतु है। इसी प्रकार नारकीय दु:ख में पड़े हुए प्राणी का रोदन मात्र दु:ख के उद्रेक से होता है। उसका रोदन दु:ख के परिहार का हेतु नहीं होता है। सुख के प्रति राग से भोजनादि में और दु:ख के प्रति द्वेष से उसकी निवृत्ति के लिये कांटा निकालने आदि में प्रवृत्ति होती है।

परमेश्वर सबका कर्ता है अत: उसमें दु:खादि के उद्रेक की कल्पना अनुपयुक्त है। पूर्ण-आनन्द, सकलगुणयुक्त एवं सकल-दोष-रहित होने से उसमें सुखराग और दु:खद्वेष की भी कल्पना नहीं की जा सकती है। अत: परिशेष से यही निश्चित होता है कि उसकी प्रवृत्ति केवल लीला से होती है[१]।

ब्रह्म सविशेष है —

आनन्दतीर्थ ने भेद प्रतिनिधि विशेष की कल्पना की है, किन्तु यह विशेष न्याय-वैशेषिक का विशेष नहीं है। यह विशेष ब्रह्म से अत्यन्ताभिन्न है। ब्रह्म और विशेष में तादात्म्य सम्बन्ध है। यह विशेष की कल्पना ब्रह्म और उसके गुण क्रिया आदि में अभेद होते हुए भी भेद का व्यवहार करने के लिये है। यद्यपि ब्रह्म और उसके सर्वज्ञत्वादि गुणों, क्रियाओं आदि में अभेद है, तथापि उनमें भेद का व्यवहार होता है। विशेष ही इस भेद-व्यवहार का प्रतिनिधि है।

यह विशेष साक्षि-प्रत्यक्ष-गोचर है। अभेद में भेद के व्यवहार का अनुभव सब को होता है। अत: साक्षि-प्रत्यक्ष ही इसमें प्रमाण है।

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० १३३

ब्रह्म को सविशेष मानने पर ही उसमें सर्वज्ञत्वादि धर्मों को अङ्गीकृत किया जा सकता है। उसको निर्विशेष मानने पर उसमें उक्त धर्म उपपन्न नहीं हो सकते हैं एवं ऐसा होने पर सर्वज्ञत्वादि बताने वाली श्रुतियों का अप्रामाण्य होगा।

अद्वैतवादी को ब्रह्म का सविशेषत्व स्वीकृत करना पड़ेगा। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'[१] श्रुति में सत्यादि पद ब्रह्म के ही वाचक और अभिन्न हैं अतः एक साथ अनेक पदों के प्रयोग की व्यर्थता प्राप्त होती है। सविशेषाभेद स्वीकृत करने पर ही इन पदों का प्रयोग उपपन्न होता है - 'ब्रह्म, सत्यादि पदों का अन्यार्थ है। इनमें भेद का अभाव होने पर भी ब्रह्म में आरोपित असत्यत्वादि धर्मों के अनेक होने से उनके व्यावर्तक रूप से सत्यादि पद सार्थक होंगे' -- ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। यदि ब्रह्म निर्विशेष है तो उससे कुछ भी व्यावर्त्य नहीं होगा। अतः सविशेषत्व सर्वथा स्वीकरणीय है।

-o-

---

१. तै० उ० २।१

ब्रह्म की शास्त्रप्रमाणकता

`जन्माद्यस्य यतः` सूत्र में ब्रह्म को जगत् के जन्मादि का कारण बताया गया है। यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण नहीं, अपितु स्वरूप-लक्षण है यह जयतीर्थ के अनुसार इसके पूर्व निश्चित किया गया है। उक्त लक्षणों वाला ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है। प्रत्यक्ष या अनुमान से जगत्कारण ब्रह्म का अवगम नहीं होता है।

ब्रह्म में अनुमान प्रमाण नहीं है —

ब्रह्म प्रत्यक्ष का तो विषय ही नहीं है। किन्तु नैयायिकादि मतों में ब्रह्म को अनुमानगम्य माना गया है। जयतीर्थ ने ~~ईश्वर~~ ब्रह्म के अनुमानगम्यत्व को अनुपपन्न बताया है। उनके अनुसार ब्रह्म को जगत् का कारण मानने में दो प्रकार का अनुमान हो सकता है -- (१) शास्त्रानुसारी और (२) स्वतन्त्र[१]।

यदि शास्त्रानुसारी अनुमान ब्रह्म के जगत्कारणत्व में प्रमाण है तब तो शास्त्र को ही प्रमाणता सिद्ध होती है, और वह उन्हें इष्ट ही है। शास्त्र तो सामस्त्येन भगवत्परक हैं। किन्तु स्वतन्त्र अनुमान इस विषय में उपपन्न नहीं है।

स्वतन्त्र रूप से अनुमान करने वाले `क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्, घटवत्` इत्यादि वाक्य में दो विकल्प हो सकते हैं --(१)क्षित्यादि कार्य, कारणादि का पहले से साक्षात्कार कर लेने वाले कर्ता के कार्य हैं` यह साध्य है, अथवा (२) सकर्तृत्वमात्र।

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० १०८

प्रथम विकल्प में दृष्टान्त साध्यविकल है । घटादि का कर्ता कुलालादि घटादि के कारणभूत धर्माधर्मों का साक्षात्कार नहीं करता है ।

द्वितीय विकल्प में सिद्ध-साधन है, क्योंकि सामान्य कर्तृत्व तो अदृष्टवान् जीवात्माओं में भी उपपन्न है । यदि कहा जाय कि कारणों का अभिज्ञान न होने से जीव को कर्ता नहीं माना जा सकता - तो ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर तो कुलालादि के अकर्तृत्व का प्रसंग होगा, क्योंकि कुलालादि को कारणों का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं रहता है ।

जगत् का कारण ईश्वर अनुमानवेद्य नहीं है, यह श्रुतियों में कहा गया है । 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'[1], 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'[2] 'नेन्द्रियाणि नानुमानं वेदाह्येवैनं वेदयन्ति'[3] इत्यादि वाक्य ईश्वर के अनुमानवेद्यत्व का निषेध करते हुए उसको वेदवेद्यता बताते हैं ।

विष्णु में शास्त्रों का समन्वय है-

सम्पूर्ण शास्त्र विष्णु को ही जगत्कारण रूप से बताते हैं । यद्यपि कहीं-कहीं पर शास्त्रों का ब्रह्म-रुद्र-आदि-परत्व प्रतीत होता है; किन्तु शास्त्रों का सम्यक् विचार करने पर ज्ञात होता है कि सम्यग् वचनवृत्ति से शक्तितात्पर्यलक्षण-सम्बन्ध के ज्ञान से विष्णु ही जगत् के जन्मादि के कारण रूप से कथित है, शिव या ब्रह्मा आदि नहीं ।

---

1. शाट्यायनीयोपनिषद् 4

2. क० उ० 2।9

3. न्या० सु० पृ० 110 में उद्धृत

ब्रह्म शास्त्रों से अवाच्य नहीं है

ब्रह्म शास्त्रों से प्रतिपाद्य नहीं है, ऐसा नहीं है। वह सर्वथा शास्त्र प्रतिपाद्य है, क्योंकि उसके विषय में ईक्षितृत्व का कथन किया गया है।

`यतो वाचो निवर्तन्ते`[1], `अशब्दमस्पर्शम्`[2] इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म का अवाच्यत्व या अशब्दत्व सिद्ध होता है—यह कहना ठीक नहीं है। इन श्रुतियों से ब्रह्म ही वाच्य है। उसी का कथन करते हुए उसे अवाच्य कहने में स्वक्रियाविरोध होगा, जैसे `मूकोऽहम्` कहने में। ब्रह्म को लक्ष्य कहते हुए भी उसे लक्ष्य शब्द से वाच्य तो मानना ही पड़ेगा।

अवाच्य का अर्थ `अद्भुत या आश्चर्यतम है। ब्रह्म के अनन्त-गुण-पूर्ण होने के कारण उसका पूर्ण रूप से वर्णन नहीं किया जा सकता है, इसलिये उसे अवाच्य कहा जाता है।

आनन्दमयादि शब्द परब्रह्म के वाचक हैं-

तैत्तिरीयोपनिषद् में `स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः`[3] इत्यादि श्रुति में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय पुरुष का कथन किया गया है। इन श्रुतियों में सन्देह होता है कि इनमें परब्रह्म का कथन है या उससे भिन्न संसारी जीव का? अन्नमय आदि शब्दों में प्रयुक्त `मयट्` प्रत्यय का प्रयोग विकार अर्थ में भी होता है, और प्राचुर्य अर्थ में भी। विकार अर्थ ग्रहण करने पर उक्त वाक्य जीव के वाचक प्रतीत होते हैं, क्योंकि ब्रह्म अन्न आदि का विकार नहीं हो सकता है। विकार शरीरादि कोशों में ही सम्भव है।

---

१. तै० उ० २।४

२. क० उ० १।३।१५

३. तै० उ० २।१

जयतीर्थ के अनुसार अन्नमयादि शब्दों से परब्रह्म ही वाच्य है, क्योंकि 'ये अन्नं ब्रह्मोपासते'[1], 'ये प्राणं ब्रह्मोपासते'[2], 'आनन्दो ब्रह्मणो विद्वान्'[3], 'विज्ञानं ब्रह्म वेदेद'[4], इत्यादि स्थलों में अन्नमयादि विषयतया उदाहृत श्लोकों में 'ब्रह्म' शब्द का ही अभ्यास है। यहाँ मयट् प्रत्यय का प्रयोग प्राचुर्य अर्थ में है। ब्रह्म में अन्नादि का प्राचुर्य सर्वथा उपयुक्त है।

अन्न शब्द का अर्थ-

प्रकृत प्रसंग में अन्न शब्द का अर्थ सामान्यतया प्रसिद्ध अन्न नहीं है, अपितु निर्वचन से वह परमात्मा का वाचक सिद्ध होता है। 'अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते'[5], यह अन्न शब्द का निर्वचन है। इस प्रकार अद्यते भोग्यते भूतैः, अत्ति च भूतानि इति अन्नम्, यह अर्थ परमात्मा में ही उपयुक्त है। यह अद्यत्व का गौण-वृत्ति से भोग्यत्व अर्थ गृहीत किया गया है, और सभी भूतों का उपजीव्य होने से ब्रह्म का भोग्यत्व उचित ही है। अत्तृत्व[6] का अर्थ संहर्तृत्व है।

इसी प्रकार प्राण, मनस् और विज्ञान शब्दों के भी प्रसिद्ध अर्थ क्रमशः वायु, अन्तःकरण और बुद्धि का परित्याग कर क्रमशः प्राणन, मननाधन और विज्ञानार्थता ग्रहण करके उनका प्राचुर्य अशरीरी परमात्मा में ही उपपन्न होता है।

----

१. तै० उ० २।२

२. वही २।३

३. वही २।४

४. वही २।५

५. वही २।२

६. द्रष्टव्य न्या० सु० पृ० १३०

'मयट्' प्रत्यय का प्राचुर्य अर्थ स्वीकृत करने पर भी [illegible] का अन्नमयादित्व उपपन्न नहीं है, किसी वस्तु से प्रचुर कहने पर उससे विरुद्ध वस्तु की अल्पता भी प्रसक्त होती है, जैसे 'ब्राह्मण-प्रचुरोऽयं ग्रामः' कथन से उस ग्राम में अब्राह्मणों की अल्पता ज्ञात होती है। और परमात्मा में अज्ञान,दुःख आदि का लेश भी नहीं है। अतः अन्नमयादि शब्दों को परमात्मा का वाचक नहीं माना जा सकता है।

पूर्वपक्ष का उक्त कथन ठीक नहीं है। प्रचुर कथन से विरुद्ध की अल्पता की प्राप्ति-रूप अर्थ सर्वथा अनुपपन्न है। तत्प्रचुर शब्द, किसी विषय में उसका महत्त्वभाव बताता है, उससे विरुद्ध का सद्भाव तो प्रमाणान्तर से गम्य है। पूर्वपक्षी का मत मानने पर तो 'अन्नप्रचुरो मखः' कथन से मख में भी दुर्भिक्ष का लेश और 'प्रकाश-प्रचुरः सविता' कथन से सूर्य में भी अन्धकार के लेश का प्रसंग होगा।

ईश्वर की क्रिया नित्य है–

ईश्वर के साथ ही उससे अभिन्न उसकी क्रिया भी नित्य है[1]। परमेश्वर और उसकी क्रिया में अत्यन्ताभेद है। यह क्रिया उसका विशेष धर्म है।

'परमेश्वर तो नित्य है, किन्तु क्रियाओं का नित्यत्व नहीं माना जा सकता है,क्योंकि क्रियाओं का अनित्यत्व प्रसिद्ध है।'

यह कहना ठीक नहीं है। परमेश्वर की क्रियाओं का अनित्यत्व मानने के तीन कारण हो सकते हैं -- (१) प्रमाण बल, (२) नित्यत्व

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु० पृ० १५८-५६

२. द्रष्टव्य वही पृ० १६१

में बाधक का सद्भाव या (३) साधक प्रमाण का अभाव ।

इनमें से प्रथम विकल्प नहीं माना जा सकता है । ईश्वर और उसकी क्रिया अतीन्द्रिय होने से उसमें प्रत्यक्षप्रमाण से अनित्यत्व नहीं कहा जा सकता है । लिङ्ग के अभाव में अनुमान भी अनुपपन्न है । क्रियात्व को लिङ्ग मानने के दो विकल्प सम्भव हैं —(१) धात्वर्थ या (२) परिस्पन्दत्व ।

इनमें से ज्ञान इच्छा प्रयत्न आदि से व्यभिचार होने से प्रथम विकल्प उपपन्न नहीं है । सम्पूर्ण क्रियाओं में परिस्पन्दत्व न होने से द्वितीय विकल्प में भागासिद्धत्व होगा । आगम प्रमाण से भी ईश्वर की क्रिया की अनित्यता सिद्ध नहीं होती । 'स इमांल्लोकानसृजत' में भूतकाल का प्रयोग होने से उसकी क्रिया में अनित्यता ज्ञात होती है '— ऐसा कहना ठीक नहीं है । यह वाक्य तो 'स ऐक्षत', 'सोऽकामयत' इत्यादि के तुल्य है । यदि उक्त वाक्य से क्रिया का अनित्यत्व माना जाय तो ज्ञानादि का भी अनित्यत्व मानना पड़ेगा ।

'परमेश्वर की क्रिया की नित्यता में बाधक का सद्भाव है । यदि सृष्टि के समय भी संहार क्रिया हो तो श्रुति में वैसा ही उपलब्ध होता । सृष्टि और संहार दोनों ही परमेश्वर की क्रियायें हैं । और घट का जनन और विनाश एककालिक प्रसक्त होता, तथा च यदि क्रिया नित्य होती तो संयोग विभाग की उत्पत्ति का सातत्य प्रसक्त होता ।'

पूर्वपक्ष का उक्त कथन समीचीन नहीं है । तत्तत्कार्य-जनन शक्ति ही क्रिया है । अतः शक्ति रूप से स्थित वह जब व्यक्त होती है तो व्यवहार का आलम्बन और तत्तत्कार्य की जननी होती है । सृष्टि के समय भी

संहार का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि क्रिया व्यक्ति रूप होने पर ही व्यवहार का आलम्बन होती है। व्यक्ति अवस्था वाली शक्ति ही जनक होने से जनन और विनाश युगपत् नहीं होंगे। इसी से संयोग विभाग का सातत्य भी प्रसक्त नहीं होगा। अवस्थाविशेष ही व्यक्ति है। व्यक्ति के अनन्त अवान्तर विशेष होने से संहार काल में सृष्टि का अभाव उपपन्न होगा। क्रिया के शक्ति और व्यक्ति रूप अभिन्न हैं किन्तु उनमें रहने वाला विशेष स्वकर्मनिर्वाहक है। वह विशेषी से अभिन्न होता हुआ भी भेद रूप कर्म का निर्वाहक होता है।

इस प्रकार से अन्यत्र भी क्रिया का नित्यत्व मानना ठीक नहीं है। उनकी नित्यता में निर्बाध प्रमाण नहीं है। घटादि क्रिया की नित्यता में निर्बाध प्रमाण का अभाव है, किन्तु परमेश्वर की क्रिया में निर्बाध प्रमाण है। `परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।` यह परमेश्वर क्रिया की नित्यता में प्रमाण है। निर्बाध प्रमाण होने पर उसकी अन्यथानुपपत्ति से ऐसी कल्पना की जाती है।

ईश्वर विरुद्ध धर्मों वाला है —

परमेश्वर अणुत्व, महत्त्व आदि विरुद्ध धर्मों वाला है, उसका यह विरुद्ध धर्मत्व प्रमाणों से सिद्ध है। राम, कृष्ण आदि के रूप में कौसल्या, यशोदा आदि को दर्शन इस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण है। ईश्वर के अणुत्व धर्म वाले और महत्त्वधर्म वाले दोनों प्रकार के कार्य दर्शन से इस विषय में अनुमान भी होता है। तथा `अणोरणीयान् महतो महीयान्` इत्यादि श्रुति प्रमाण भी है। इन धर्मों का परमेश्वर में विरोध प्रमाणों से ज्ञात नहीं होता है।

वस्तुत: ब्रह्म से अन्य घटादि में तत्सम्बन्धावच्छिन्न जो स्थौल्यादि हैं, उनका अभाव ही ब्रह्म में कथित है, सर्वथा नि:स्वभावत्व नहीं जैसा कि 'अस्थूलमनणु' इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है।

समीक्षा

न्यायसुधा में स्वीकृत ब्रह्म का स्वरूप न्याय-वैशेषिकादि के ब्रह्म-स्वरूप से अधिक भिन्न नहीं है। ब्रह्म की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुण तो सभी मतों में अङ्गीकृत किये गये हैं।

अद्वैत-मत में उक्त स्वरूप अभिमत हैं, किन्तु अद्वैत मत उसे निर्विशेष मानता है जबकि जयतीर्थ उससे स्वरूपत: अत्यन्ताभिन्न गुणों के भेद का व्यवहार होने से उसे सविशेष मानते हैं।

जयतीर्थ के अनुसार ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि गुण उससे अत्यन्ताभिन्न हैं, उनके भेद व्यवहार के लिये स्वीकृत विशेष भी ब्रह्म से अत्यन्ताभिन्न हैं। ब्रह्म और उनमें तादात्म्य सम्बन्ध है।

यहाँ यह शङ्का उठती है कि जब ब्रह्म और गुणों में अत्यन्ताभेद तथा ब्रह्म और विशेष में भी अत्यन्ताभेद या तादात्म्य है तो विशेष की कल्पना का औचित्य क्या है?

किन्तु अभेद होते हुए भी भेद के कथन की उपपत्ति से उक्त शङ्का का समाधान हो जाता है। जैसे सूर्य और उसके प्रकाश में यद्यपि अत्यन्ताभेद है तथापि 'सूर्य का प्रकाश' इस प्रकार भेद व्यवहार होता है, इसकी उपपत्ति के लिये विशेष की कल्पना उचित ही है।

'एकमेवाद्वितीयम्' और 'नेह नानास्ति किञ्चन' श्रुतियों का व्याख्यान भी युक्तियुक्त है। परमेश्वर में 'अणोरणीयान्' इत्यादि से विरुद्ध धर्म अद्वैत मत में भी स्वीकृत किये जाते हैं।

-0-

चतुर्थ अध्याय

-०-

जीव-विचार

चतुर्थ अध्याय

-o-

जीव विचार

जीव का स्वरूप

दर्शन में ब्रह्म के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व जीव है। यह भी ब्रह्म के समान ही ज्ञानादि गुणों से युक्त है। नाना प्राणियों को देखकर यह सहज ही मन में प्रश्न उठते हैं कि असंख्य प्रकार के आकीटपतङ्गादि मनुष्य पर्यन्त शरीरों को धारण करने वाला, अनेक प्रकार के दु:खशोकादि को भोगने वाला जीव वस्तुत: क्या है? इसके अनेक प्रकार के सुखदु:खादि का कारण क्या है? इसका ब्रह्म तथा अन्य जगत् से क्या सम्बन्ध है? विभिन्न दर्शनों में इन प्रश्नों के विभिन्न समाधान प्रस्तुत किये हैं। अद्वैत मत में जीव की स्थिति जगत् से भिन्न प्रकार की नहीं है, जगत् की तरह ही जीव भी मिथ्या अज्ञान से कल्पित माना गया है। द्वैत मत में अभिमत जीव का स्वरूप न्याय-वैशेषिक और सांख्य के जीव-स्वरूप से कुछ मिलता जुलता है। किन्तु द्वैत मत में जीव का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, जबकि न्याय-वैशेषिक मत में जीव स्वरूपत: ज्ञानसुखादि रहित, एवं सांख्य में कर्तृत्वभोक्तृत्व-रहित स्वीकृत किया गया है।

सांख्य में जीव

सांख्य में जीव को पुरुष कहा गया है। पुरुष अनेक हैं। पुरुष सर्वथा स्वतन्त्र, अजन्मा एवं चेतन है। वह स्वरूपत: साक्षीमात्र, अपरिणामी एवं विभु है। उसमें कर्तृत्व या भोक्तृत्व नहीं है, किन्तु प्रकृति के संयोग से बुद्धिस्थ भोगों का भोक्ता स्वयं को मान लेता है और सुख दु:ख आदि का अनुभव करता है। प्रकृति और पुरुष का विवेकज्ञान हो जाने पर वह संसार से मुक्त हो जाता है।

न्याय दर्शन में जीव

न्याय दर्शन में भी जीव अनेक माने गए हैं। जीव सांख्य

के पुरुष की तरह असंग, उदासीन साक्षीमात्र नहीं है, उसमें कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि भ्रम से नहीं अपितु यथार्थत: है। वह चेतन है किन्तु चैतन्य उसका स्वरूप नहीं अपितु धर्म है जो उसका देहेन्द्रियों से संयोग होने पर ही व्यक्त होता है। मुक्तावस्था में जीव ज्ञानसुखादिरहित होता है। वह नित्य, अपरिणामी एवं विभु है, किन्तु अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् एवं ईश्वर से अत्यन्त भिन्न है। प्रारब्ध कर्मों के वश वह तत्तत् शरीरों को प्राप्त कर कर्म-फलों का भोग करता है।

द्वैताभिमत जीव-स्वरूप

माध्व मत में भी जीवों का अनेकत्व प्रतिपादित किया गया है। जयतीर्थ ने मध्व-प्रतिपादित जीवस्वरूप को यथावत् समर्थित किया है।

जीव अनेक तथा नित्य है

जीव स्वरूपत: अनेक हैं। उनका अनेकत्व अद्वैत में प्रतिपादित अज्ञानोपहित व्यष्टि रूप से नहीं, अपितु स्वाभाविक है। भिन्न-भिन्न शरीरों को धारण किये हुए, भिन्न-भिन्न प्रकार की सुख-दु:खादि की अवस्थाओं को प्राप्त जीवों में भिन्नता प्रत्यक्ष है। एक ही जीव अनेक शरीरों में व्याप्त नहीं हो सकता है। तथा एक ही जीव को एक ही काल में विभिन्न शरीरादि की प्राप्ति उपपन्न नहीं होती है। शरीरादि की प्राप्ति प्रारब्ध कर्मों से उनका फल भोगने के लिए होती है। यदि जीव एक ही होता तो उसके प्रारब्ध कर्म वही होने से एक ही शरीर की प्राप्ति और एक ही प्रकार के फलों का भोग होता। किन्तु अनुभव इसके विरुद्ध होता है।

जीव की नित्यता प्राय: सभी दर्शनों में स्वीकृत की गयी है। जीव की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता है। यदि जीव का विनाश हो तो कर्मफलभोग की व्यवस्था अनुपपन्न होगी। जीव अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल अनेक जन्मों में भोगता है। यदि वह शरीर के साथ ही विनष्ट होता तो कृतकर्मप्रणाश की प्रसक्ति होगी, तथा यदि उसे उत्पत्तिमान् स्वीकृत किया जाय तो अकृतकर्म का भोग प्रसक्त होगा। अनेक पुरुषों को जन्मान्तर की स्मृति भी देखी जाती है, अत: जीव नित्य है। जीव की उत्पत्ति मानी जाती है, किन्तु वह उत्पत्ति अभूत्वाभवनरूपा नहीं अपितु देहेन्द्रियसंयोगरूपा है।

जीव चेतन तथा कर्ता-भोक्ता है -

जीव ब्रह्म के समान चेतन और ज्ञानादिमान् है। इसी सादृश्य के कारण ही जीव और ब्रह्म को गौणरूप से एक कहा जाता है। 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियों में जीव और ब्रह्म का सादृश्य ही विवक्षित है, इसका विवेचन आगे किया जायेगा। यह चेतनता जीव का स्वभाव है, आगत धर्म नहीं। चेतनता के कारण ही वह ज्ञानवान् है। जीव का यह ज्ञान रूप धर्म भी उससे भिन्न नहीं है। ब्रह्म भी ज्ञानवान् है, किन्तु वह सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ है। जीव की अल्पज्ञता सर्वानुभवसिद्ध है।

जगत् का स्वरूप, उसके सुख दु:खादि सर्वथा सत्य हैं और जीव उनका यथार्थ भोक्ता है। सुख-दु:ख, मिथ्या या भ्रम नहीं है, क्योंकि उनका शुक्ति रजतादि के समान बाध नहीं देखा जाता है, और इनका अनुभव सबको होता है। ये सुख और दु:ख जीव के द्वारा किये गए कर्मों के फल हैं। जीव के कर्तृत्व को मिथ्या नहीं कहा जा सकता। वह राग या द्वेषवश अनेक कर्म करता है और उन कर्मों के फलों को भोगता है। यह कर्म और भोग

की परम्परा तब तक चलती रहती है, जब तक जीव ज्ञानपूर्वक ईश्वरप्रसाद को प्राप्त नहीं कर लेता है। ज्ञानपूर्वक ईश्वर की उपासना करने से भक्ति और प्रसाद प्राप्त होता है। ईश्वर-प्रसाद से संचित कर्मों का नाश हो जाता है, किन्तु प्रारब्ध कर्म सर्वथा नष्ट नहीं होते। प्रारब्ध कर्मों के फल का भोग हो जाने पर जीव मुक्त हो जाता है।

जीव ईश्वर के अधीन है—

जीव चेतन और ज्ञानादिमान् होता हुआ स्वतन्त्र नहीं वह सर्वथा और सर्वदा ईश्वर के अधीन है[1]। ईश्वर ही जीवों का प्रेरक और नियन्ता है। जिस प्रकार दर्पण में पड़ने वाला प्रतिबिम्ब अपनी प्रत्येक स्थिति और क्रिया के लिये बिम्ब के अधीन होती है, उसी प्रकार जीव की प्रत्येक स्थिति और क्रिया ईश्वर के अधीन है, किन्तु जीव की यह अधीनता बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव के कारण नहीं, अपितु ब्रह्म की इच्छा और नियन्तृत्व के कारण है।

यहां यह शंका हो सकती है कि यदि ईश्वर ही जीवों को कर्म करने के लिये प्रेरित करता है, तो उन कर्मों के फलस्वरूप सुख या दुःख जीवों को क्यों भोगना पड़ता है? यदि वह कर्म करने में स्वतन्त्र होता तो उसे फलभोग प्राप्त होना चाहिए था किन्तु उक्त शंका उपयुक्त नहीं है। ईश्वर का प्रेरकत्व इसलिये नहीं कहा जाता कि वह जीवों को उन उन कर्मों में लगाता है, अपितु केवल इसलिये कि वह कर्म करने की शक्ति का नियन्ता है। विभिन्न प्रकार के कर्मों में तो जीव अपनी इच्छा से प्रवृत्त होता है।

---

१. जीवगणा हरेरनुगाः (व्यासराय)

नियन्ता होने से ईश्वर को अन्तर्यामी कहा जाता है ।

मुक्ति की अवस्था में भी जीव स्वतन्त्र नहीं होता है । ईश्वर के अधीन रहता हुआ वह उस अवस्था में मुक्तिगत आनन्दों को भोगता है । मुक्त अवस्था में जीव की परमस्वतन्त्रता और ईश्वरत्व उपपन्न नहीं है । यदि उसे स्वतन्त्र और ईश्वर के समान माना जाय तो द्वितीय और इसी प्रकार अनेक ईश्वरों का प्रसंग और सृष्ट्यादि की नियामकता में अव्यवस्था का प्रसंग होगा । इसके अतिरिक्त मुक्ति देने वाला ईश्वर किसी पर प्रसन्न होकर उसे अपना परमस्वातन्त्र्य और सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रदान नहीं कर सकता है । अत: जीव को उस अवस्था में भी ईश्वर के अधीन मानना ही उचित है ।

जीवों में तारतम्य है -

माध्व मत में जीवों को नीचोच्चभावगत माना गया है[1] । यह इस मत का प्रमुख वैशिष्ट्य है । न्यायादि दर्शनों में जीवों में मौलिक असमानता नहीं स्वीकृत की गयी है ।

जीवों की स्थिति में तारतम्य या नीचोच्चता का हेतु उनकी अनादि-योग्यता है । वर्तमान में हम जीवों की स्थिति में प्रत्यक्ष तारतम्य का अनुभव करते ही हैं । यदि सृष्टि के प्रारम्भ में जीवों की स्थिति और योग्यता में समानता होती तो वे समान कर्म करते, और समान कर्मों के फल भी समान होते, इसी प्रकार उत्तर उत्तर सृष्टि में योग्यता और कर्म फल में साम्य होने से उनमें सदैव साम्य रहता और वर्तमान में जीवों में महान् वैषम्य न होता ।

जीवों के वर्तमान वैषम्य में ईश्वर को निमित्त मानना ठीक

----

१. जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावंगता: — व्यासराय

नहीं है, वह तो कर्मों के अनुसार ही फलों को देने वाला है। यदि समान कर्म होने पर ईश्वर विषम फल प्रदान करे तो उसमें वैषम्य और नैर्घृण्यादि दोषों का प्रसंग होगा। किन्तु ईश्वर में दोषों की कल्पना नहीं की जा सकती है। अतः जीवों का यह तारतम्य अनादि है।

मुक्ति की अवस्था में भी जीवों में तारतम्य रहता है[१] और उनको अपनी योग्यता और साधनानुष्ठान के अनुसार ही मोक्षगत आनन्द की प्राप्ति होती है। मोक्षावस्था सर्वथा सुखदुःख-रहित उदासीनता की स्थिति नहीं है,अपितु उसमें सुख भी है[२]। ब्रह्म आदि देवों का आनन्द मनुष्य जीवों की अपेक्षा बहुत अधिक रहता है, क्योंकि उनका मोक्ष साधनानुष्ठान अधिक होता है। साधन तारतम्य होने पर भी यदि ईश्वर मोक्षावस्था में समान आनन्दादि भोग प्रदान करे तो उसमें वैषम्य और नैर्घृण्यादि दोषों की प्रसक्ति होगी और अधिक साधनानुष्ठानों की व्यर्थता भी सिद्ध होगी। मुक्ति की अवस्था में तारतम्य होने पर भी जीवों मे द्वेषादि की कल्पना उपपन्न नहीं है इसका विशद विवेचन 'मोक्षसाधन-विचार' अध्याय में किया जायेगा।

इस प्रकार न्याय सुधा में जीव की स्थिति प्रकृति आदि की तरह ही सर्वथा ईश्वर के अधीन है, वह सर्वथा और सर्वदा ईश्वर से नियन्त्रित है। उसका प्रकृति आदि से इतना ही भेद है कि वह चेतन और ज्ञानवान् किन्तु प्रकृति जड और ज्ञानादिरहित है।

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु० पृ० ६०६

२. द्रष्टव्य वही पृ० २८०

ब्रह्म और जीव

द्वैत वेदान्त में ब्रह्म और जीव के स्वरूप को पृथक् बतलाते हुए इनके परस्पर भेद का समर्थन किया गया है। शंकर ने जहां जीव और ब्रह्म का एकत्व प्रतिपादित किया, रामानुज ने शंकर से थोड़ा वैमत्य मानकर भेदाभेद का प्रतिपादन किया वहीं मध्व और उनके जयतीर्थ जैसे अनुयायियों ने शंकर के अभेद मत का स्पष्ट खण्डन करते हुए भेद की पुनः स्थापना की। शंकर ने जिन युक्तियों से जीव और ब्रह्म का अभेद या भेद-मिथ्यात्व प्रतिपादित किया है उन सभी युक्तियों का खण्डन करते हुए न्यायसुधा में भेद का प्रबल समर्थन किया गया है।

वस्तुतः जीव और ब्रह्म के भेद को सभी स्वीकार करते हैं। किन्तु आचार्य शंकर और उनके अनुयायियों ने अपनी युक्तियों से इस भेद को मिथ्या और अभेद को परमार्थ सिद्ध किया है। अतः उन अभेद-प्रतिपादक युक्तियों का खण्डन कर देने मात्र से ही भेद स्वयं सिद्ध हो जाता है। यहां उल्लेखनीय है कि ईश्वर, परमात्मा, परमेश्वर आदि ब्रह्म के ही वाचक हैं। यह परमात्मा या ईश्वर अद्वैत मत में अभिमत अज्ञानोपहित ब्रह्म नहीं है। यहां पर यह भी कहा जा सकता है कि द्वैत मत में ईश्वर और जीव का भेद स्वीकार किया गया है। अद्वैत मत में अज्ञानोपहित ब्रह्म ही सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व आदि से युक्त हुआ ईश्वर है एवं वही व्यष्टि रूप में अल्पज्ञत्व आदि से युक्त जीव है अतः अज्ञान की अवस्था में जीव और ईश्वर में भेद माना जा सकता है किन्तु शुद्ध चैतन्य एक मात्र आत्मा या ब्रह्म ही है। उस शुद्ध चैतन्यावस्था में जीव और ब्रह्म में अत्यन्ताभेद है। किन्तु यह ठीक नहीं है। ईश्वर शुद्ध चैतन्य परमात्मा या ब्रह्म ही है। अज्ञान से उपहित चैतन्य को सर्वज्ञ स्वीकार करना समीचीन नहीं है।

जीव और परमात्मा का ऐक्य मानना युक्त नहीं है अपितु ये सर्वथा पृथक् ही हैं। 'विष्णु जैवाज्जीवश्च विष्णोर्भिन्नो विन्त्य: परमो जीवसंघात्।' इत्यादि श्रुतियां और स्मृतियां जीव और परमात्मा को पृथक् ही कहती हैं। ये श्रुतियां और स्मृतियां अविद्याकल्पित भेद-विषयक होने से अन्यथासिद्ध है, इनसे तात्त्विकभेद नहीं सिद्ध किया जा सकता है - यह कहना ठीक नहीं है। 'एष ब्रह्मैष प्रजापतिरिन्द्र:'[१] इत्यादि श्रुतियों से विश्वप्रपञ्च का कथन कर 'सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम्'[२] से उस विश्वप्रपञ्च को प्रज्ञाख्यब्रह्म-नेतृक बताया गया है और इस प्रकार प्रज्ञाख्य ब्रह्म और विश्वप्रपञ्च में नेतृ-नेतव्य भाव कल्पित किया है। 'प्रज्ञानेत्रो लोक:'[३] इस श्रुति में मुक्ति में भी जीव और परमात्मा के भेद का कथन किया गया है[४]। नीयते अनेनेति नेत्रम्' यह नेत्र शब्द की व्युत्पत्ति है। 'प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म'[५] इस वाक्यभेद से ब्रह्म ही प्रज्ञा है। नेता और नेतव्य में अभेद नहीं माना जा सकता है। इस 'प्रज्ञानेत्र' श्रुति को अवान्तरमुक्ति-विषया भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अवान्तरमुक्ति में लोकातीतता (अलोकता) नहीं होती है। देहेन्द्रियादि से रहितत्व ही अलोकता है। इस प्रकार परममुक्ति में अनुवर्तमानभेद अविद्याकल्पित नहीं हो सकता है।

अन्य श्रुतियां और स्मृतियां भी जीवात्मा और परमात्मा के भेद का समर्थन करती हैं। 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य'[६] यह श्रुति भेद

---

१. ऐ० उ० ३। १। ३

२. वही ३। १। ३

३. वही ३।१।३

४. अलोको मुक्तोऽपि प्रज्ञानेत्र: ब्रह्मनेतृक: इति (न्यायसु० पृ० ५३५)

५. ऐ० उ० ३।१।३

६. तै० उ० ३।१० ।५

का ही कथन करती है क्योंकि इसमें सामीप्य-प्राप्ति का कथन है। यह श्रुति भी अवान्तर-मुक्ति-विषयक नहीं है, क्योंकि 'अस्माल्लोकात्प्रेत्येति'[1] वचन से विदेहत्व का कथन किया गया है। 'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'[2] इत्यादि श्रुति भी मुक्ति में जीव और ब्रह्म के भेद का कथन करती है। इस श्रुति में मुक्तिप्राप्त जीव के लिए ईश्वर की साम्य-प्राप्ति का कथन किया गया है। साम्य, भेद का समानाश्रय होता है। पुण्य और पापाञ्जन-रूप अविद्या के विधूनन का कथन होने से यह श्रुति भी परममुक्ति-विषया है। इसी प्रकार 'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य'[3] इत्यादि स्मृतियाँ और 'स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः'[4] इत्यादि अनेक श्रुतियाँ मुक्ति में जीव और परमात्मा के भेद का समर्थन करती है।[5]

मीमांसाशास्त्र का विषय

मायावादि मत के अनुसार जीव और ब्रह्म का एकत्व ही मीमांसाशास्त्र का विषय है। यद्यपि मन्त्र और ब्राह्मणों में द्वैतालम्बनत्व प्राप्त होता है, किन्तु वे अतत्त्वावेदक और अविद्वद्विषयक हैं; वे तत्त्व का अवबोध नहीं कराते। उपनिषदें ही तत्त्व की अवबोधिका हैं, और ये अद्वैत-निष्ठ हैं। 'तत्त्वमसि'[6] इत्यादि वाक्य साक्षात् जीव की ब्रह्मता का

---

१. तै० उ० ३। १०। ५

२. मु० उ० ३। १। ३

३. गीता १४।२

४. छान्दोग्य ८।१२।३

५. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० ४३७

६. छान्दोग्यो० ६।८।७

प्रतिपादन करते हैं । `सदेव सौम्य`[१] इत्यादि वाक्य उसी अर्थ का निरूपण करते हुए उसी में समन्वित होते हैं । सृष्ट्यादि का कथन ब्रह्म की निष्प्रपञ्चता का प्रतिपादन करने के लिये अनुवादतया उपयुक्त होता है । प्राणादि की उपासना अन्त:करण की पराग्-वृत्तियों के निरोध द्वारा अद्वैत की प्रतिपत्ति में उपयुक्त हैं । इस प्रकार जीव और ब्रह्म का एकत्व ही वेदान्त का विषय है, इसलिये उसकी उपकरणभूता मीमांसा भी तद्विषयक ही है ।

मायावादी का उक्त कथन समीचीन नहीं है । `तत्त्वमसि` इत्यादि वेद ही एकता-विषयक नहीं हैं । इस श्रुति में `त्वं` पद का अर्थ जीव और `तत्` पद का अर्थ ब्रह्म है । यहाँ पर जीव की ब्रह्मता क्या मुख्य-वृत्ति से प्रतिपादनीय है या विरोधिभागत्यागपूर्वक स्वरूपमात्रलक्षणा से ? इनमें से प्रथम विकल्प सम्भव नहीं है, वेद जीव की ब्रह्मता का कथन नहीं कर सकता है,क्योंकि इसमें प्रत्यक्षविरोध है । `त्वं` पद का मुख्यार्थ दु:खादि विशिष्ट है एवं `तत्` पद का मुख्यार्थ निर्दु:खत्वादियुक्त है । इसके ऐक्य प्रतिपादन में न केवल प्रत्यक्षविरोध है, अपितु स्ववचनविरोध भी है । भाग-त्याग लक्षणा से भी जीव और ब्रह्म का एकत्व नहीं कहा जा सकता है । द्वितीय विकल्प में `त्वं`और `तत्` के पदार्थों में विरोध्याकार का परित्याग क्या विवक्षाभावमात्र से है या अनित्यत्व के कारण या मिथ्यात्व के कारण[२] ? (१) विवक्षाभावमात्र से विरोध की निवृत्ति नहीं होती है, पृथिवीत्वादि की अविवक्षामात्र से पृथिवी जलादि का अभेद नहीं कहा जा सकता है । विवक्षा न होने पर भी विरोधी आकार निवृत्त नहीं होता है । (२) अनित्यत्वेन भी विरोधी आकार का परित्याग नहीं स्वीकृत किया जा सकता है । `असि` यह वर्तमान निर्देश है ; दु:खित्वादि विरोधी आकार की

---

१. छान्दोग्य० ६।२।१

२. द्रष्टव्य न्यायसुधा, पृ० ६५

अनित्यत्वदशा में `तत्त्वं भविष्यसि` ऐसा कथन होना चाहिए । वर्तमान में दु:खित्वादि विशिष्ट और निर्दु:खत्वादियुक्त दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? विरोधी आकार का मिथ्यात्व भी नहीं स्वीकृत किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष से दु:खित्वादि विरोधी आकार के सत्यत्व का बोध होता है[1]।

यहां पर पूर्वपक्षी की ओर से यह कहा जाता है कि प्रत्यक्ष विरोध से श्रुति को प्रतीतार्थ से च्युति नहीं हो सकती है अपितु पर और निर्दोष होने से बलवती श्रुति से विरुद्ध और पूर्वदोषशङ्काकलङ्कित `अहं दु:खी` इत्यादि प्रत्यक्ष ही अप्रमाण हो जायगा ।

उक्त कथन उपयुक्त नहीं है । जीव और ब्रह्म का ऐक्य मीमांसाशास्त्र का विषय नहीं है क्योंकि यह उसके उपकर्तव्य वेद का अविषय है । जो जो उपकर्तव्य प्रमाण का अविषय होता है वह इतिकर्तव्यता का विषय नहीं होता है । `तत्त्वमसि` आदि वाक्य एकत्वप्रतिपादक नहीं हैं, जिस प्रकार `यजमान: प्रस्तर: ` वाक्य यजमान के प्रस्तरत्व का प्रतिपादक नहीं है ।

ईश्वर का कथन कर उसका जीव से अभेद प्रतिपादित करने वाली श्रुति के द्वारा सर्वथा ईश्वरसिद्धि अपेक्षित है,क्योंकि अप्रतीतार्थ का अनुवाद नहीं होता है । ईश्वर-सिद्धि श्रुति के बिना सम्भव नहीं है । अत: `य: सर्वज्ञ:` इत्यादि श्रुति ही इसकी उपजीव्या है, और यह श्रुति असर्वज्ञ जीव से ईश्वर का भेद प्रतिपादित करती है । इसलिये `तत्त्वमसि ` इत्यादि श्रुति को अद्वैतवादिनी नहीं माना जा सकता है । इसके अतिरिक्त सावकाश और निरवकाश में निरवकाश बलवान् होता है । अद्वैतश्रुति साक्षात् अद्वैत के

---

1. द्रष्टव्य न्यायसुधा, पृ० ६५

बिना भी स्वातन्त्र्यादि निमित्त से अमुख्यार्थ का ग्रहण करने से घटमान है, अत: सावकाश है, किन्तु जीवेशभेद के अतिरिक्त अन्य अर्थ की प्रतीति न होने से भेदश्रुति निरवकाश है। इसलिये निरवकाश होने के कारण बलवती भेद-श्रुति के द्वारा सावकाशतया दुर्बल अभेदश्रुति का बाध उपयुक्त है।

भेदमिथ्यात्व-खण्डन (मिथ्यात्व के विकल्प)

अद्वैत मत के अनुसार जीव और ईश्वर का प्रतीयमानभेद मिथ्या है। वस्तुत: उनमें सर्वथा अभेद ही है। किन्तु यह भेदमिथ्यात्व मानना सर्वथा अप्रामाणिक है, मिथ्यात्व किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

भेदमिथ्यात्व के चार विकल्प हो सकते हैं -- (१) या तो यह सत् है या (२) असत् है या (३) सदसत् है या (४) न सत् है और न असत्। इनमें से प्रथम विकल्प स्वीकार करने पर मायावादियों का अपसिद्धान्त होगा क्योंकि उनके मत में ब्रह्म ही एकमात्र सत् है। मिथ्यात्व ब्रह्म नहीं है जिससे उसके सत् होने पर भी अद्वैतवाद का अपसिद्धान्त न हो, क्योंकि ब्रह्म निर्विकल्प है। द्वितीय विकल्प स्वीकार करने पर जीव-ब्रह्मभेद सत् होगा तथा पुन: वही अपसिद्धान्त होगा। सत् और असत् पक्ष के निराकरण से सदसत्त्व विकल्प भी निराकृत होता है। चतुर्थ विकल्प अर्थात् मिथ्यात्व का सत् और असत् से वैलक्षण्य किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता है।

मिथ्या-शब्दार्थ के विकल्प

'मिथ्या' शब्द के अर्थ के विभिन्न विकल्पों से भी अभेद की सिद्धि नहीं होती है। 'मिथ्या' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं (१) असत्

या (२) अनिर्वाच्य । इनमें से प्रथम विकल्प मानने पर मायावाद का अपसिद्धान्त होगा क्योंकि मायावादियों ने मिथ्या को असद्विलक्षण माना है। द्वितीय विकल्पार्थ अनिर्वाच्य अप्रसिद्ध विशेषण है। मिथ्यात्व शब्द का अर्थ सत्त्वाभाव कहना भी असत्त्व अर्थ का कथन है[1]।

अनिर्वाच्यत्व में अनुमानादि प्रमाण नहीं है

अनिर्वाच्यत्व अनुमानादि प्रमाणों से सिद्ध नहीं है। प्रत्यक्ष से अनिर्वचनीयत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अनुमान से भी अनिर्वाच्यत्व सिद्ध नहीं होता है। बाध्यत्व को हेतु मानकर शुक्ति रजतादि को अनिर्वाच्य मानने में अनवस्था होगी। क्योंकि जिस बाध्यत्व को हेतु मान कर अनिर्वाच्यता सिद्ध कर रहे हैं वह क्या सत् है या असत् या अनिर्वचनीय? उसे सत् स्वीकार करने पर अद्वैतवाद का अपसिद्धान्त होगा, असत् मानने पर शुक्ति रजतादि का बाध नहीं होगा एवं यदि अनिर्वचनीय मानें तो पुन: वह अनिर्वचनीयता असिद्ध है। आगमप्रमाण से भी अनिर्वाच्यत्व सिद्ध नहीं होता है। `ना सदासीन्नो सदासीत्तदानीम्`[2] आगमवाक्य प्रलय में सदादि का अभाव मात्र बतलाता है,अनिर्वाच्य वस्तु नहीं। इसलिये इस आगम का अर्थ `अनिर्वाच्य` नहीं है।

`प्रलय में सत् और असत् का अभाव प्रतिपादित किया गया है, इस सामर्थ्य से उस समय विद्यमान अर्थ के सत्त्व और असत्त्व के प्रतिषेध का ज्ञान होता है, अत: परिशेष से उसके अनिर्वाच्यत्व का बोध होता है। उस समय वस्तुमात्र का तो अभाव है नहीं, अन्यथा पुन: सृष्टि उपपन्न नहीं

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० ४३७

२. ऋ० १० ।१२६ ।१

होगी एवं अभाव को अङ्गीकृत करना पड़ेगा -- पूर्वपक्ष का उक्त कथन उपयुक्त नहीं है । उक्त प्रकार से अनिर्वाच्य अर्थ तब हो सकता था यदि यहाँ सत् और असत् शब्द प्रतीतार्थ होते अर्थात् किसी प्रतीत अर्थ-विशेष के सदसत्त्व का कथन करते, किन्तु ऐसा नहीं है । ये सत् और असत् शब्द प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष व्यवहारभूतपरक हैं । इनको प्रतीतार्थ मानने पर सद् रूप से अङ्गीकृत परमात्मा का ही अनिर्वाच्यत्व प्रसक्त होगा, क्योंकि सत् और असत् के प्रतिषेध-सामर्थ्य से, सम्पूर्ण कार्य का लय हो जाने पर, अवशिष्ट का अनिर्वाच्यत्व होगा, और प्रलयकाल में परमात्मा ही लीन न होने के कारण अवशिष्ट होता है ।

`यह वस्तु अनिर्वाच्य है` इस प्रकार कोई भी सामान्य या विशेषज्ञ पुरुष नेत्रादि से नहीं जानता है । शुक्तिरजतादि के बाध से उत्तरकाल में `मिथ्या ही रजत प्रतीत हुई थी` इस वाक्यबोध में मिथ्या शब्द का `अतद्` (वह नहीं) अर्थ है, अनिर्वचनीय` नहीं ।

`यदि आकाशादि जगत् या शुक्ति-रजतादि सत् होता तो बाधित न होता और यदि असत् होता तो उसकी प्रतीति ही नहीं होती, इस प्रकार बाध और प्रतीति की अनुपपत्ति से अनिर्वाच्यत्व ज्ञात होता है `--यह कहना भी उपयुक्त नहीं है । उक्त अर्थापत्ति से अनिर्वाच्यत्व का बोध संभव नहीं है क्योंकि आकाशादि के सत्त्व और शुक्तिरजतादि के असत्त्व में अनुपपत्ति नहीं है । आकाशादि जगत् के बाध का अभाव होने से ही सत्त्व होने पर बाध नहीं होता है, ऐसा मानना उचित है[१] ।

`आकाशादि जगत् दृश्य होने के कारण भ्रान्ति के समान बाध्य होगा`-- ऐसा कहना ठीक नहीं है । भ्रान्ति का दृष्टान्त आकाशादि जगत् की बाध्यता का साधक नहीं है । भ्रान्ति स्थल में तो सत्यज्ञान हो जाने

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० ४३६

पर `नेदं रजतम्` इत्यादि-प्रकारक ज्ञान होता है किन्तु आकाशादि में `यह आकाशादि नहीं है` ऐसा बोध किसी को नहीं होता है। यदि भ्रान्ति का दृष्टान्त देकर जगत् को बाध्य मानें तब रजतादि के अधिष्ठान शुक्ति आदि का अधिष्ठान भी बाधित होगा। किन्तु ऐसा नहीं है।

बाध्यत्व के दो विकल्प हो सकते हैं -- (१) ज्ञान का बाध होता है या (२) विषय का। इनमें से प्रथम विकल्प संभव नहीं है, क्योंकि अधिष्ठान ज्ञान का नाश्यत्व रूप बाध नहीं होता है; अधिष्ठान-ज्ञान का बाध होने पर प्रमिति का भी बाध प्रसक्त होगा। इसके अतिरिक्त अद्वैतमत में ज्ञान का साक्षिरूप स्वीकृत कर उसे अविनाश्य कहा गया है। द्वितीय विकल्प में भी बाध्य विषय क्या शुक्त्यादि है या रजतादि? इनमें से शुक्त्यादि का बाध सम्भव नहीं है, क्योंकि वह तो वस्तुत: विद्यमान है। वस्तुत: विद्यमान वस्तु यथार्थज्ञान होने के पश्चात् भी अनुवर्तमान होती है, उसका बाध नहीं होता है। वस्तुत: विद्यमान वस्तु का बाध मानने पर आत्मा के भी बाध का प्रसंग होगा। अविद्यमान शुक्ति-रजतादि का भी बाध्यत्व या नाश्यत्व मानना उपयुक्त नहीं है। जो वस्तु पहले विद्यमान होती है उसी का किसी के द्वारा नाश संभव है, अविद्यमान का नहीं। जिस प्रकार अविद्यमान वन्ध्यासुत का नाश्यत्व संभव नहीं है, उसी प्रकार अविद्यमान शुक्तिरजतादि का नाश्यत्व संभव नहीं है, अथवा जो नाश्य है वह असत् नहीं है जैसे `घटवत`। यद्यपि व्यतीर्थ भी बाध्यत्व मानते हैं किन्तु उनका बाध्यत्व `अन्यथा विज्ञात वस्तु का सम्यग्-विज्ञान-गोचरत्व`[१] रूप है। उक्त लक्षण बाध्यत्व तो भ्रान्ति के समान ही आकाशादि में भी है ही, क्योंकि क्षणिकत्व, ब्रह्मपरिणामत्वादि रूप से ज्ञात आकाशादि का स्थायित्वादि रूप से सम्यग् विज्ञान होता है। इस बाध से आकाशादि का

---

१. अन्यथा विज्ञातस्य सम्यग् विज्ञानगोचरत्वं बाध्यत्वम् - न्या० सु० पृ० ४४०

सत्त्वाभाव सम्भव नहीं होता है, क्योंकि 'जो सत् है उसका बाध नहीं होता है', ऐसी व्याप्तिज्ञात नहीं है । अन्य रूप से ज्ञात आत्मा का भी सम्यग्-विज्ञान-गोचरत्व दोनों पक्षों में सिद्ध है ।

जीवेश्वर-भेदमिथ्यात्व प्रमाणसिद्ध नहीं है

जीव और ईश्वर के भेद का मिथ्यात्व प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध नहीं है । प्रत्यक्ष से इस भेद का सत्त्व निश्चित नहीं होता है । प्रत्यक्षविरुद्ध होने के कारण यह अनुमान से भी नहीं सिद्ध होता है । इस अनुमान में कालात्ययापदिष्टत्व होगा, जिसके अनुसार 'जीवेश्वरभेद मिथ्या है, भेद होने से, द्वितीयचन्द्रभेद के समान' यह अनुमानवाक्य बनता है ।

'ईश्वर का शास्त्रयोनित्व अर्थात् शास्त्रप्रमाणकत्व स्वीकृत किया जाता है, वह प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है तथा एक आत्मा के ~~प्रत्यक्ष~~ अन्य आत्मा के प्रति प्रत्यक्ष सिद्ध न होने से सभी जीव भी प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है । अतः अप्रत्यक्ष वस्तु का भेद ही प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है, उसकी सत्यता के विषय में क्या कहा जा सकता है'।

पूर्वपक्ष का उक्त कथन समीचीन नहीं है[1] । एक ही भेद अनेक में व्याप्त नहीं है अपितु एक प्रातियोगिक और परधार्मिक अनेक भेद हैं और उसकी प्रत्यक्षता में धर्मी की ही प्रत्यक्षता उपयुक्त है, प्रतियोगी (भेद) का तो अवगम मात्र होता है । ऐसा लोक में देखा जाता है । यद्यपि ईश्वर और अन्य आत्मा के अप्रत्यक्ष होने से तद्धार्मिक भेद भी प्रत्यक्ष से ज्ञात नहीं होता है तथापि परमेश्वर प्रातियोगिक और स्वात्मधार्मिक भेद प्रत्यक्ष से

---

१. द्रष्टव्य - ~~अन्यथा विज्ञातस्य सम्यक् विज्ञानगोचरत्वं बाध्यत्वम्,~~
न्या० सु०,पृ० ४४२

ज्ञात हो सकता है, क्योंकि स्वात्मा प्रत्यक्ष है और ईश्वर शास्त्र से अवगत है। जो व्यक्ति शास्त्र से ईश्वर को नहीं जानता है वह भले ही ईश्वर-प्रातियोगिक स्वात्मभेद को न जान सके किन्तु जो शास्त्र से ईश्वर को जानता है, उसका प्रत्यक्ष तो ईश्वर से स्वात्मा के भेद में प्रमाण अवश्य ही है।

यहाँ पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि यद्यपि साक्षात्कारि प्रत्यक्ष को द्वैतमत में जीवेश्वरभेद में प्रमाण माना गया है, किन्तु 'भेदग्राहक-प्रत्यक्ष अनुमान की अपेक्षा प्रबल है, इसका तो निरूपण ही नहीं किया गया अतः अनुमान का कालात्ययापदिष्टत्व कैसे माना जा सकता है?

इसका उत्तर यह है कि स्वात्मा का परात्मा से भेदग्राहक साक्षिप्रत्यय अपने स्वरूप और प्रामाण्य से एवं धर्मी की कोटि में निविष्ट जीव का ग्राहक होने से उपजीव्य है इसलिये अनुमान से प्रबल है। अतः उसके विरोध के कारण जीव और ब्रह्म के एकत्व का अनुमान नहीं किया जा सकता है। जीव अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, किञ्चित्कर्ता एवं दुःखी और ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वकर्ता एवं निर्दुःख है, ऐसा सबके अनुभव एवं श्रुति से ज्ञात होता है। जो व्यक्ति जिस अर्थ को जानता हुआ उससे विरुद्धधर्म वाले अर्थ को जानता है, वह उससे उसके भेद को प्रत्यक्षतः जानता है, ऐसा सर्वसाक्षिक अनुभव है। अतः साक्षि प्रत्यक्ष जीवेश्वर भेद का ग्राहक है। यद्यपि भेद प्रत्यक्षसिद्ध है तथापि प्रतियोगी का वैधर्म्यज्ञान प्रत्यक्ष का सहायक होता है जैसे रत्नतत्त्व के साक्षात्कार में शास्त्रीय लक्षण-ज्ञान सहायक होता है।

जीव को पक्ष मानकर उसके ईश्वर से अभेदसाधन में प्रत्यक्ष-विरोध इसके पूर्व स्पष्ट किया गया है। ईश्वर को पक्षमानने में भी उसकी सिद्धि श्रुति से ही होती है, और 'यः सर्वज्ञः' इत्यादि श्रुति ईश्वर का अल्पज्ञत्वादिमान् जीव से भेद ही बताती है। 'सर्वोऽस्मि' इत्यादि श्रुति

जीव का कथन कर उसका ईश्वर से ऐक्य बताती है - ऐसा यदि माना जाय तो जीवग्राहक साक्षि-प्रत्यक्ष ही उपजीव्य होगा और वह (साक्षिप्रत्यक्ष) भेद ग्राहक है । इस प्रकार ऐक्य मानने में उपजीव्य विरोध होगा । और यदि ईश्वर का कथन कर उसका जीव से अभेद बताती है तब `य: सर्वज्ञ: ' इत्यादि अन्य श्रुति उपजीव्य होगी और वह भेदग्राहिका है, इस प्रकार भी उपजीव्य विरोध होगा । तथा च यदि दोनों का कथनकर अभेद मात्र बोध्य है तो दोनों ही उपजीव्य होंगे और इस प्रकार उपजीव्य विरोध स्पष्ट ही है ।

'तत्त्वमसि' आदि का अर्थ

वेदान्त में `तत्त्वमसि ' महावाक्य का वाक्यार्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । अद्वैत वेदान्त में इसकी व्याख्या जीवब्रह्माभेदपरक की गयी है । इसके लिये जहदजहल्लक्षणा का आश्रय लिया गया है । `तत् ' पद का वाच्यार्थ परोक्षत्वादि-विशिष्ट चैतन्य एवं त्वं पद का वाच्यार्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य लिया गया है और भागत्याग लक्षणा के द्वारा दोनों वाच्यार्थों के परस्पर विरुद्धांश का परित्याग कर अविशिष्ट शुद्ध एक चैतन्य में तात्पर्य स्वीकृत किया गया है ।

जयतीर्थ ने इस व्याख्या का खण्डन करते हुए जीव और ईश्वर के भेद का समर्थन करने वाली व्याख्या प्रस्तुत की है । उनके अनुसार जीव और ईश्वर का भेद ही है किन्तु तत्सदृश गुण होने के कारण अभेद की तरह का वर्णन किया गया है । वस्तुत: उनमें सादृश्य ही अभेद है । जिस प्रकार : `सिंहो देवदत्त: ' में शौर्यक्रौर्यादि के सादृश्य के कारण अभेद का गौण कथन किया जाता है, उसी प्रकार `तत्त्वमसि' वाक्य में जीव और ईश्वर के अभेद का गौण कथन किया गया है । अद्वैतवादी `तत् ' और `त्वं ' पद के विरुद्ध अर्थ के

एकदेश का त्यागकर लक्षणा से समानाधिकरणमात्र को मुख्य मानते हैं। इसकी अपेक्षा दोनों पदों का मुख्यार्थ स्वीकृत कर समानाधिकरणमात्र को गौण मानना अधिक उपयुक्त है। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'[1] इत्यादि निर्देश ईश्वर के प्राधान्य और स्वातन्त्र्य के कारण लाक्षणिक हैं। यहाँ पर 'द्रष्टा' पद से उसमें आरोपित वैशिष्ट्य और स्वातन्त्र्य उपलक्षित होते हैं, और इस प्रकार 'द्रष्टा विशिष्ट और स्वतन्त्र अन्य कोई नहीं है' यह अर्थ प्राप्त होता है।

'तत्त्वमसि' इत्यादि निर्देश प्राधान्य और स्वातन्त्र्य से भी लाक्षणिक व्याख्यात किया जा सकता है। 'तत्' शब्द से प्राधान्य और स्वातन्त्र्य लक्षित होते हैं, पुनः इन प्राधान्य और स्वातन्त्र्य से तद्विषयता लक्षित होती है। इस प्रकार 'तत्प्रधानक और तत्तन्त्रक' वाक्यार्थ होता है। स्थानैक्य को निमित्त मानकर भी अभेद माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त पूर्वप्रसंग को देखते हुए 'स आत्मातत्त्वमसि' का 'अतत्त्वमसि' इत्यादि भी व्याख्यान हो सकता है। श्वेतकेतु बारह वर्ष तक अध्ययन करने के पश्चात् उद्दण्डभाव से अहंकारयुक्त हुआ पिता के पास पहुंचा। उसके अहंकार और उद्दण्डता को देखकर ही पिता ने उसको विनययुक्त बनाने के लिए उपदेश किया ऐसी स्थिति में यदि पिता उससे कहते कि 'तुम्हो ब्रह्म हो' तो उसे और अधिक अभिमान और उद्दण्डता आ जाती। अतः ~~इसलिए~~ 'तत्त्वमसि' का ब्रह्मजीवैक्य रूप में व्याख्यान उपपन्न नहीं होता है। ईश्वर से जीव का जो सादृश्य जीवमात्र में कहा गया है वह मुक्त में ही व्यक्त होता है, इस अभिप्राय से भी विशेषतः अभेदोक्ति उपयुक्त है।

---

1. बृ० उ० 3।7।23

ऐक्य-कथन जीव जड़ साधारण नहीं है--

`सर्वं खल्विदं ब्रह्म` और `भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुर्वनानिविष्णुर्गिरयो दिशश्च` इत्यादि में जो जड़ पदार्थों का भी विष्णु से सादृश्य-रूप ऐक्य कहा गया है, यह ऐक्य तत्प्रधानकत्व और तदधीनत्व के कारण है। वहाँ का ईश्वर के साथ सादृश्य सत्तादिरूप से ही है जीव की तरह आनन्दादि-रूप से नहीं। आनन्दादिरूप सादृश्य भी सम्पूर्ण जीवों में नहीं है, सभी जीवमात्र आनन्दादि-रूप नहीं होते हैं। `तत्त्वमसि` उक्ति सम्पूर्ण जीवों के लिए नहीं किन्तु `मोक्षयोग्य` के प्रति ही है। सभी जीवों में मोक्षयोग्यता नहीं होती है, क्योंकि सभी जीव वेद के अधिकारी नहीं होते हैं। वेद के अधिकारी ही वेदार्थ ज्ञान प्राप्त कर भगवान् का स्वरूप जानकर उनकी प्रसन्नता प्राप्त कर सकते हैं। उनकी प्रसन्नता से ही मोक्ष प्राप्त होता है। स्थानैक्यनिमित्तक अभेद मानने पर क्षीर-सागरादिस्थित भगवान् के रूप की अपेक्षा से उक्ति है। इसलिये यह ऐक्य-कथन जीवजड़-साधारण नहीं है।

भेदभ्रमत्व-खण्डन

अभेद-सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस अभेद-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा शंकर के अनुयायियों ने विभिन्न प्रकार से की है। प्रतीयमान भेद को उन्होंने मिथ्या, अनिर्वचनीय, भ्रान्ति आदि कहकर अस्वीकृत किया है। जयतीर्थ ने इन सबका खण्डन बड़े सबल ढंग से करते हुए भेद का प्रबल समर्थन किया है।

मायावादियों के अनुसार जीव और ईश्वर का भेद भ्रान्तिसिद्ध है।१ यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या (१) केवल यही (जीवेश्वर)

भेद ही भ्रान्तिसिद्ध है ? या (२) भेदमात्र ? प्रथम विकल्प स्वीकृत करने पर मायावाद का अपसिद्धान्त होगा क्योंकि वे सर्वथा अभेद मानते हैं। केवल जीवेश्वर को ही भ्रान्तिसिद्ध मानने पर अन्य भेद तो सत्य ही होंगे। द्वितीय विकल्प में भ्रान्ति की स्थिति ही सिद्ध नहीं होती है। भ्रान्ति सर्वदा अभ्रान्ति पूर्वक होती है, जैसे शुक्तिका में रजत की भ्रान्ति के पूर्व अन्यत्र सत्य रजत का ज्ञान होना आवश्यक है; अभ्रान्त रजत के ज्ञान के बिना कहीं भी रजत की भ्रान्ति नहीं होती है। इसी प्रकार भेदभ्रान्ति के लिए भी कहीं सत्यभेद की स्थिति होनी चाहिए। किन्तु मायावादी कहीं भी भेद की सत्यता अङ्गीकृत नहीं करते हैं, इसलिए जीवेश्वरभेद की भ्रान्ति भी सम्भव नहीं होगी[१]।

यहाँ पूर्वपक्षी का कथन है कि कोई भी भेद सत्य नहीं है, फिर भी जीवेश्वर-भेद की भ्रान्ति उत्पन्न होती है। भ्रान्ति संस्कार की अपेक्षा से होती है। ज्ञानमात्र ही संस्कार है, अतः पूर्व पूर्व के भ्रमसंस्कार से उत्तरोत्तर भ्रान्ति उत्पन्न होती है,क्योंकि यह संसार अनादि है।

उक्त कथन समीचीन नहीं है। भेदमात्र का मिथ्यात्व निश्चित होने पर ही उसके आधार पर यह कल्पना की जा सकती है,किन्तु भेदमात्र का मिथ्यात्व निश्चित नहीं है। `सम्पूर्ण भेद भ्रान्ति-कल्पित हैं` इस वाक्य के अर्थ में दो विकल्प हो सकते हैं -- (१) इसका वाक्यार्थ भ्रान्ति-कल्पित है या (२) परमार्थ ? प्रथम विकल्प में भी यह वाक्यार्थ बाध्य है या नहीं ? यदि यह बाध्य नहीं है तो भ्रान्तिकल्पित भी नहीं होगा। यदि किसी भी परिस्थिति में बाध्य न होने वाले वाक्यार्थ को भ्रान्ति-कल्पित मान लिया जाय तो ब्रह्म के भी भ्रान्ति कल्पितत्व का प्रसंग होगा। यदि यह वाक्यार्थ भ्रान्ति-कल्पित है तो बाध्य भी होगा और इस वाक्यार्थ के भ्रान्ति-

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु० पृ० ६२७

कल्पित और बाध्य होने पर सम्पूर्ण भेद पारमार्थिक हो जायगा । तथा च यदि यह वाक्यार्थ सत्य है तो इस वाक्यार्थ और ब्रह्म में जो भेद है वह सत्य होगा । इस प्रकार दोनों ही तरह से वाक्यार्थ व्याहत होगा ।

भेदाभेदमतनिराकरणम्[1]

आचार्य जयतीर्थ ने मध्वप्रतिपादित भेद का सर्वत्र युक्तियुक्त प्रबल समर्थन किया है । वस्तुत: भेद ही सर्वानुभूत सत्य है । जीव और ईश्वर का अभेद होने पर मुक्ति की अपेक्षा ही नहीं होगी तथा ब्रह्मजिज्ञासा आदि का प्रतिपादन भी व्यर्थ हो होगा । मायावादियों के अत्यन्ताभेद मत का निराकरण करके आचार्य ने भेद के विरोधी रामानुज मत का भी सतर्क खण्डन किया है । रामानुज के अनुयायी जीव और ईश्वर में अल्पज्ञत्व, सर्वज्ञत्वादि के कारण भेद मानते हैं साथ ही एक प्रकार से अभेद भी मानते हैं । अभेद की सिद्धि वे अनुमान से करते हैं । इनके अनुसार जीव, ब्रह्म की तरह चेतन होने के कारण उससे अभिन्न है,क्योंकि वह ब्रह्म का ही अंश है । जो जिसका अंश होता है,. वह उससे अभिन्न होता है, जैसे ईश्वर के अंश मत्स्यादि उससे अभिन्न है । इस प्रकार जीव ब्रह्म से भिन्नाभिन्न है ।

उक्त मत उपयुक्त नहीं है । चेतनत्वादि के अनुमान से जीव का ब्रह्म से अभेद साधन नहीं किया जा सकता है । जीव तो ब्रह्म का अवभास है अत: वह उससे अभिन्न नहीं है,जो जिसका अवभास होता है, वह उससे अभिन्न नहीं होता, जैसे सूर्य के अवभास सूर्य से अभिन्न नहीं होते । जीव ब्रह्म का अवभास या छाया है यह श्रुतिसिद्ध है । श्रुति के अनुसार जिस प्रकार छाया पुरुष के

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु० पृ० ५०२

अधीन होती है, उसी प्रकार यह जीवसमूह परमात्मा के अधीन है। उसके अधीन होना ही उसका अवभासत्व है। यह परमेश्वर का अवभासत्व साक्षात् न होकर परम्परया है।

पूर्वपक्ष के तर्क

पूर्वपक्ष की ओर से यह कहा जाता है कि जीव को परमेश्वर का अवभास मानना युक्ति-विरुद्ध है। श्रुति निरवकाशयुक्ति के विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन नहीं करती है। सूर्य-प्रतिबिम्ब-रूप अवभास या आभास जलादि उपाधि के अधीन होते हैं अर्थात् आभासत्व व्याप्य और उपाध्यधीनत्व (उपाधि के अधीन होना) व्यापक होता है। व्यापक उपाध्यधीनत्व जीवों में नहीं है इसलिए उनका आभासत्व रूप व्याप्य युक्त नहीं है। अतः अनुमान दुष्ट होगा। इसके अतिरिक्त इसमें विरोध भी है। दर्पणादि से सन्निकृष्ट होकर लौटी हुई नेत्ररश्मियाँ मुख से सन्निकृष्ट होकर उसी को विषय बनाती हैं, उससे अन्य अवभास नाम की कोई वस्तु नहीं होती है। उसमें व्यवच्छेद, पराक्त्व (पश्चात् होना) और दक्षिण-वाम पार्श्व का व्यत्यास (विपरीतता) भ्रान्ति से ही प्रतीत होते हैं और यह भ्रम सोपाधिक होता है। इस प्रकार अवभासत्व अभेद से व्याप्त होता है। अतः उससे भेदसाधन करना विरुद्ध है। 'तत्त्वमसि' आदि श्रुति के विरुद्ध होने से भेदसाधन में कालातीतत्व भी है। इस प्रकार अवभासत्वानुमान दुष्ट है, अतः पूर्वोक्त चेतनत्वादि अनुमान से जीव और ब्रह्म का ऐक्य सिद्ध होता है।

हमारा अभिमत ऐक्य मायावादियों की तरह का अत्यन्ताभेद नहीं है, अपितु समुदाय-ऐक्य है। ब्रह्म अंशी एवं जीवों का समुदाय

है, तथा जीव उसी के अंश हैं, वे अलग-अलग जीव के रूप में होते हुए भी समुदाय-रूप में ब्रह्म ही हैं। अतः समुदाय-ऐक्य के अङ्गीकृत करने से समुदाय-रूप ब्रह्म और उसके अंश जीव में पृथक्त्व भी रहेगा। अर्थात् ब्रह्म एक ही परमार्थभूत है, वह माया के सम्बन्ध से ईश्वरत्व प्राप्त करता है। वह ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वेश्वर और जगत् का कर्ता होता है, और जीव ब्रह्म के अंश, चित्स्वभाव होते हैं, जैसे अग्नि की चिनगारियां अग्नि की ही अंश होती हैं। अतः जीव पृथक् अंश रूप से ब्रह्म से भिन्न एवं समुदाय रूप में उससे अभिन्न हैं। वे परस्पर और ईश्वर से भिन्न ही होते हैं, ब्रह्म सकल चेतनसमुदायात्मक और उनसे अतिरिक्त है।[१] इस प्रकार ईश्वर और जीव में भेदाभेद है।

ब्रह्म से जीवों का भेदाभेद स्वाभाविक नहीं है। उनमें अभेद स्वाभाविक है और भेद औपाधिक है जैसे ईश्वर के अंश मत्स्यादि का ईश्वर से भेदाभेद होता है। परन्तु जीव और ब्रह्म के भेदाभेद में विशिष्टता है -मत्स्यादि तो जगत् पर अनुग्रह करने के लिए, लीलाविग्रह वाले, उपाधिभिन्न और अत्यन्त तिरस्कृत ऐश्वर्यादि वाले होते हैं। किन्तु जीव तो अनादि अविद्याकामकर्मादि के बन्धन के कारण देहेन्द्रियादि उपाधि वाले, तिरस्कृत ब्रह्मस्वभाव एवं उपाधि से होने वाले दुःखादि के भागी होते हैं। चूंकि इस प्रकार का भेद औपाधिक ही है, अतः ज्ञान और कर्म से देहादि उपाधियों का आत्यन्तिक अभाव हो जाने पर जीवों की ईश्वर के रूप में समता हो जाती है। अर्थात् जिस प्रकार ईश्वर के रूप मत्स्यादि, कार्य के अवसान हो जाने पर स्वेच्छा से ही लीलाविग्रह का त्याग करके ईश्वरत्व को प्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव भी ज्ञान और कर्म के समुच्चय का अनुष्ठान करके प्रारब्ध कर्म का अवसान हो जाने पर देहादि उपाधियों से अत्यन्त विमुक्त होकर स्वाभाविक ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु० पृ० ५०४

जीव उपाधि के अधीन नहीं हैं। यदि जीव उपाधि के अधीन होते तो उपाधि के नाश हो जाने पर जीवों का भी नाश हो जाता, जिस प्रकार जलादि उपाधियों के नष्ट हो जाने पर उसमें प्रतीत होने वाले सूर्याभासों का नाश हो जाता है। और जीवों का नाश किसी को इष्ट नहीं है तथा उपाधि को अविनाशी भी नहीं माना जा सकता है। उपाधि को अविनाशी मानने में प्रत्यक्ष विरोध और सर्वदा संसारित्व की आपत्ति होगी। इस प्रकार उभयथा ही मोक्षशास्त्र की व्यर्थता प्रसक्त होगी। क्योंकि यदि देहादि उपाधि अविनाशी होगी तो जीव सदा उससे बद्ध रहेगा उसके मोक्ष की स्थिति तो देहादि के नष्ट होने पर ही सकती है, अत: उसके लिए मोक्ष का उपदेश व्यर्थ ही होगा। इसी प्रकार यदि जीव उपाधि के अधीन मानें तो उपाधि के नष्ट होने पर जीव नष्ट ही हो जायेगा, अत: उसके लिये भी मोक्षशास्त्र व्यर्थ ही होगा। इस प्रकार का जीव का उपाधि के अधीन होने का मत सर्वथा अस्वीकरणीय है ; अत: अवभासत्व की असिद्धि निश्चित होती है।

सिद्धान्त पक्ष

भेदाभेदवादियों का उक्त तर्क समीचीन नहीं है[१]। सूर्याभास का अवभासत्व और जीवों का अवभासत्व पूर्णतया एक जैसे नहीं है, अपितु उनमें कुछ विशिष्टता है। जो जीवों का परमेश्वराधीनत्व और सदृशत्व कहा गया है वह चित्त्वमात्र है, अन्य स्वातन्त्र्यसर्वज्ञत्वादि नहीं। जीव भी परमेश्वर की तरह चेतन है अत: वह उसके अधीन और सदृश कहा जाता है, किन्तु वह उसकी तरह स्वतन्त्र, सर्वज्ञ आदि निखिलगुणाधिष्ठान नहीं है। परमेश्वर के अधीनत्व मात्र से ही इन चिदात्मा जीवों को स्वरूपावभास माना गया है,

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु० पृ० ५०४

उपाधि के अधीन होने, उसके नाश होने पर नाश होने, और महत्वादि को निमित्त मानकर नहीं । 'अत्यन्त साम्य होने पर ही दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक भाव होता है' - ऐसा कहना ठीक नहीं है, साध्य-साधन के धर्म का साम्य ही दार्ष्टान्तिक के लिए पर्याप्त होता है । अतिसाम्य को दृष्टान्त का प्रयोजक मानने पर सभी अनुमानों के उच्छेद का प्रसंग होगा । प्रकृत में चित्त्व मात्र साम्य के अतिरिक्त जीवों में ईश्वर के साथ किञ्चित् सुखादि का सादृश्य भी है । जीव में ब्रह्म का अवभासत्व होने से तदधीनत्व और सदृशत्व होने से सूर्यकादिवत् दृष्टान्त दिया गया है, सूर्य के प्रतिबिम्ब होने से सूर्याभास की तरह मानकर नहीं ।

'बिम्ब और प्रतिबिम्ब में ऐक्य होता है इसलिए भेद सिद्ध करने के लिए सूर्यकादि दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता' - ऐसा पूर्वपक्ष का कथन उपयुक्त नहीं है,क्योंकि बिम्ब और प्रतिबिम्ब के ऐक्य में कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष से उनके पूर्वत्व और परत्व रूप भेद का ही ग्रहण होता है, लिंगाभाव होने से अनुमान भी नहीं हो सकता है । छायादि में क्रियासाम्य भी अनैकान्तिक है, प्रतिबिम्ब बिम्बकारणमात्र से जन्य है यह सन्दिग्ध है । यद्यपि यहां पर बिम्ब के अतिरिक्त प्रतिबिम्ब का अन्य कोई कारण ज्ञात नहीं है तथापि पृथक् दृष्ट कार्य के अनुरोध से अदृष्ट को भी पृथक् कारण कल्पित कर लिया जाता है ; कारण के दृष्ट न होने से कार्य का अपलाप नहीं किया जा सकता है, इसलिए उपाधि ही यहां कारण रूप से कल्पित की जायेगी । यहां बिम्ब और प्रतिबिम्ब के ऐक्य में आगम प्रमाण भी नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्यय-विरोध है । जो कि यह कहा गया है कि दर्पणादि से प्रतिहत नेत्र-रश्मियां ही मुखादि को विषय बनाती हैं - वह अनुपयुक्त है । यदि जलादि से प्रतिहत नेत्ररश्मियां मुख का दर्शन करती हैं तब तो शिलादि से प्रतिहत हुई भी नेत्ररश्मियां मुखादि को देखेंगी । इस प्रक्रिया में स्वच्छता का कोई उपयोग

नहीं है। बिम्ब प्रतिबिम्ब-ऐक्य में उक्त दोष होने के कारण आभासत्व का अनुमान निर्दोष है।

जीव परमात्मा से आभासित या प्रतीत होता है इसलिये उसके अधीन कहा जाता है[1]। ब्रह्मवत् आभासित होता है इसलिये उसके सदृश है। सूर्यादि के प्रतिबिम्ब जिस प्रकार जलादि-उपाधि के अधीन है, उस प्रकार उपाधि के अधीन होना मानकर जीव को ब्रह्म का आभास नहीं कहा गया है।

जीव ब्रह्म का अवभास है और उन दोनों में भेद है - यह बात प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी सिद्ध है। जीवों को `मैं सर्वज्ञ और निर्दोष नहीं हूं` इत्यादि अनुभव होते हैं, अतः प्रत्यक्ष ऐक्य का बाधक है। `यः सर्वज्ञः` आदि आगम भेद के ही साधक हैं। विरुद्ध धर्मों का अधिकरण होने से छाया और आतप की तरह जीव और ब्रह्म अभिन्न नहीं है।

जीव और ब्रह्म के ऐक्य का अनुसन्धान न तो जीव को होता है और न परमात्मा को। यह ऐक्य के अनुसन्धान का अभाव यदि अज्ञानादि के कारण होता तो जीव में ही होता है,क्योंकि अज्ञानादि का सम्बन्ध जीवों से ही है,परमात्मा से नहीं। परमात्मा को तो उस ऐक्य का अनुसन्धान होना ही चाहिए, क्योंकि वह सर्वज्ञ है। किन्तु `यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्`[2] इत्यादि

---

1. भा च सा च भाश्च, आ सर्वकालवर्तिन्यो भासे आभासे। परमात्माधीने आभासे यस्यासौ परमात्माभासः (न्या० सु० पृ० ५०५ । १२)

2. गीता १५ । १८

ईश्वर-वाक्यों से ही उसके भेदानुभव का ही ज्ञान होता है, अत: ईश्वर को भी ऐक्य का अनुसन्धान नहीं होता है, यह सिद्ध होता है। इसलिये यह निश्चित होता है यह ऐक्यानुसन्धान का अभाव अज्ञानादि प्रतिबन्धक के कारण नहीं अपितु ऐक्य के अभाव के कारण है।

जीव और ईश्वर चेतन होने पर भी परस्पर अंश और अंशी नहीं है, क्योंकि उनमें परस्परानुसन्धान नहीं होता है, जैसे इन्द्र और अर्जुन परस्परानुसन्धान के न होने से अंश और अंशी नहीं है। जीव को ईश्वर से अभिन्न मानने में ईश्वर का ईश्वरत्व ही उपपन्न नहीं होता है। जीव अनीश है, यह तो अनुभवसिद्ध है। उससे अभिन्न होने पर परमात्मा का भी अनीशत्व आपतित होगा, जो प्रमाणविरुद्ध और स्वव्याहत है।

इस प्रकार यह निश्चित होता है कि जीव ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न है। जीव और ईश्वर का यह भेद भ्रम, मिथ्या, कल्पित आदि नहीं, अपितु सर्वथा सत्य है। यह भेद जीवों का परस्पर और प्रत्येक जीव का ईश्वर के साथ है। इसे किसी भी प्रकार अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है। भेद के सत्य स्वीकृत करने पर ही जीव का बन्ध मोक्ष तथा मोक्षशास्त्र की सार्थकता होती है अन्यथा मोक्ष और मोक्षशास्त्र व्यर्थ ही सिद्ध होंगे।

मुक्तों का परमात्मा से भेद

जयतीर्थ ने मोक्ष की अवस्था में जीवों का परमात्मा से अत्यन्त भेद समर्थित किया है। सामान्य संसारी जीव और परमात्मा अत्यन्त भिन्न हैं, यह विस्तरूप से बताया जा चुका है। संसारबन्ध से मुक्त हो जाने

---

*.

पर भी जीव परमात्मा से भिन्न होते हैं।

मुक्ति के पूर्व परमात्मा से भिन्न जीव का मुक्ति में अभेद मानना युक्तियुक्त नहीं है। कोई वस्तु जो पहले जिससे भिन्न हो, बाद में उसका उसके साथ अभेद लोक में नहीं देखा जाता है। भिन्न वस्तु की अभिन्नता का अभाव अनुभव-सिद्ध भी है।

अद्वैतवादियों का यह मत है कि संसार में भी जीव परमात्मा से अभिन्न होता है, ऐसा मानने पर मुक्ति में भी उनकी अभिन्नता सर्वथा उपपन्न है।

अद्वैत के उक्त मत का निराकरण पहले ही किया जा चुका है। यह संसार दुःखादि-रूप और सत्य है, अतः संसार में भी जीवों का परमात्मा से अभेद मानने पर उसका दोषित्व प्रसक्त होगा।

रामानुज के मतानुसार मुक्त जीव और परमात्मा में भेदाभेद है। किन्तु उक्त मत मानने पर संसार में भी भेदाभेद अङ्गीकृत करना पड़ेगा, तथा अभेद होने से पूर्वोक्त दोष प्रसक्त होगा। यदि भेद से उस दोष का परिहार मानना है तो अभेद का मानना व्यर्थ ही है।

समीक्षा

न्यायसुधा में अभिमत जीव का स्वरूप यद्यपि नित्य और चेतन तो है, किन्तु वह अकिञ्चित्कर है। गीता में भी जीव का ऐसा ही

स्वरूप प्रतिपादित किया गया है[1]। संसार की अवस्था में जीवों की पराधीनता तथा तारतम्य तो सर्वथा उपयुक्त और संगत ही है, इस स्थिति को सभी स्वीकृत करते हैं। किन्तु मुक्त अवस्था में भी उनका अस्वातन्त्र्य एवं स्थिति में तारतम्य कुछ अनुपयुक्त प्रतीत होता है। जयतीर्थ ने इसकी भी यथाशक्य उपपन्नता प्रतिपादित की है, जिसका उल्लेख `मोक्षसाधन-विचार` में किया जायेगा।

जीवों का सत्यत्व, उनकी परस्पर और ईश्वर से पृथक्ता तो सर्वानुभूत है। किन्तु इस अनुभव को भी मिथ्या मानने वाले अद्वैत मत के अनुसार जीव का पार्थक्य प्रतिपादित करने वाले प्रमाण भी मिथ्या है, अत: यह भेद या पार्थक्य पारमार्थिक नहीं है। जयतीर्थ ने मिथ्यात्व का खण्डन शब्दत: और अर्थत: बड़ी कुशलता के साथ किया है। यदि भेद और उसके प्रतिपादक प्रमाण मिथ्या हैं तो उन्हीं मिथ्या प्रमाणों से ही ऐक्य भी प्रमाणित कैसे हो सकता है? जीव के उक्त स्वरूप का बाध नहीं देखा जाता है, तथा उनका ईश्वर से भेद साक्षिप्रत्यक्ष-सिद्ध है। साक्षिप्रत्यक्ष को अप्रमाण नहीं माना जा सकता है। `तत्त्वमसि` का सादृश्य-रूप गौण अभेद मानना भी तर्कसंगत है। जीव को ज्ञान हो जाने पर मुक्तावस्था में शंकराचार्य जी ने भी अर्चिरादि मार्ग से उसका गमन, पितृलोकादि की प्राप्ति आदि को स्वीकृत किया है। यदि ज्ञान से अज्ञान के बाधित हो जाने पर जीव ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता तो उसका गमनादि कथन व्यर्थ ही है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म के स्वाभाविक भेद का प्रतिपादन जयतीर्थ ने बड़ी कुशलता से किया है।

-o-

---

१. ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।
-- गीता १८।६१

पञ्चम अध्याय

-०-

जगत्-स्वरूप-विचार

पञ्चम अध्याय

-0-

जगत्-स्वरूप-विचार

यह समन्तत: दृश्यमान जगत् क्या है ? इसका मूल क्या है ? इसकी उत्पत्ति कैसे होती है एवं इसका परिणाम क्या है ? आदि प्रश्न ही दर्शन की प्रवृत्ति के कारण हैं। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में जगत् के स्वरूपादि का विवेचन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। वेदान्त दर्शन में सर्वप्रमुख विवेचक आचार्य शंकर का माना जाता है। आचार्य शंकर का स्थान दार्शनिक जगत् में अद्वितीय है। अद्वैत मत के वर्तमान स्वरूप का पुष्ट प्रवर्तन इन्होंने ही किया। इन्होंने अपने प्रबल तर्कों और प्रमाणों से जगत् के मिथ्यात्व और अद्वितीय सत् ब्रह्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इनके मतानुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत् है, ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त जड़-जंगम जगत् मिथ्याप्रतीतिमात्र है। सम्पूर्ण अनुभूयमान जगत् की वस्तुत: सत्ता न तो पहले थी, न वर्तमान में है, और न ही भविष्य में होगी। जिस प्रकार स्वप्न में मनुष्य अनेक प्रकार के गज तुरगादि देखता है, किन्तु जागने पर उसे उन सबके मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाता है। वे गज तुरगादि क्षणिक मिथ्या प्रतीतिमात्र होते हैं, वे वस्तुत: त्रिकाल में असत् होते हैं। उसी प्रकार यह जगत् भी अज्ञान के रहते प्रतीत होता है, ज्ञान हो जाने पर उसका अस्तित्व सर्वथा अनुभूत नहीं होता है।

शंकर के अनुसार जगत् की प्रतीति भ्रम है। जिस प्रकार दृष्टि-दोषादि के कारण शुक्ति में रजत की प्रतीति होती है, किन्तु समीप जाने आदि से यथार्थ शुक्ति का ज्ञान हो जाने पर रजत की सत्ता का त्रैकालिक अभाव निश्चित हो जाता है; उसी प्रकार शुद्ध ब्रह्म में अज्ञान के कारण नाना जगत् की प्रतीति होती है, किन्तु यथार्थ वस्तु ब्रह्म का ज्ञान होते ही जगत् की सत्ता का त्रैकालिक अभाव निश्चित हो जाता है।

जगत् के विषय में शंकर के इस सिद्धान्त का द्वैत वेदान्त में प्रबल खण्डन किया गया है। मध्वाचार्य ने जगत् की यथार्थ सत्यता का प्रतिपादन

किया है, जिसका सयुक्तिक विवेचन जयतीर्थ ने न्यायसुधा में किया है। वस्तुत: नित्यप्रति उसी रूप में दिखाई पड़ने वाले, नाना जड़-जंगम से युक्त, सम्पूर्ण व्यवहारों के साधनभूत जगत् के याथार्थ्य को मिथ्या या स्वप्नवत् कहना सत्य से आँखें बन्द करना है। नित्य प्रति उसी रूप में रहने वाले एवं सभी को एक ही रूप में दिखाई पड़ने वाले जगत् को स्वप्नवत् कैसे माना जा सकता है? जगत् के याथार्थ्य को स्वीकृत किये बिना मनुष्य उसमें होने वाले दु:खादि को यथार्थ नहीं मान सकता है, और दु:खादि बन्ध के असत्य होने पर उससे छुटकारा पाने की इच्छा नहीं होगी तथा मोक्ष के प्रयत्न और मोक्षशास्त्रों की भी व्यर्थता होगी।

न्यायसुधा में जगत् की सत्यता का पुष्ट प्रतिपादन किया गया है। जगत् का दृश्यमान रूप सर्वथा सत्य है। उसकी सत्ता वैसी ही है जैसी ब्रह्म की; अन्तर यह है कि ब्रह्म स्वतन्त्र है जबकि जगत् परतन्त्र है; ईश्वर में चेतनत्व सर्वज्ञत्व, आनन्दादिगुण हैं, जगत् जड़ है। जगत् के विभिन्न कार्यों की उत्पत्ति ईश्वर की इच्छा के अधीन होती है। जगत् के मूल कारण के सम्बन्ध में माध्वमत के विचार न्यायवैशेषिक और सांख्य मत से मिलते जुलते हैं। परमाणुरूपा अव्यक्त प्रकृति ही जगत् का मूल है। सृष्टिकाल में ईश्वर की इच्छा के अधीन महदादि जगत् की सृष्टि होती है। ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण होता है। उसका उपादान कारण प्रकृति ही है। जीवों की सत्ता जगत् से सर्वथा पृथक् है। अपने कर्मों के संस्कारवश उनका फल भोगने के लिये जीव विभिन्न शरीर धारण करते हैं।

जगत् की सत्यता प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है। यदि जगत् या सृष्टि भ्रान्ति होती तो श्रुतियों में उसका प्रतिपादन क्यों किया जाता? श्रुति मनुष्यों को भ्रान्त करने के लिये नहीं अपितु ज्ञान कराने वाली होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि 'श्रुतियों' में मिथ्या सृष्टि का प्रतिपादन करके पुन: उसका मिथ्यात्व प्रतिपादित कर अद्वैत का व्याख्यान किया गया है; और श्रुतियों का प्रयोजन सृष्टि-प्रतिपादन नहीं अपितु अद्वय आत्मतत्त्व का निर्भ्रान्त-

व्याख्यान है। यह कैसे स्वीकृत किया जा सकता है कि जो वस्तु सर्वथा असत् है, श्रुति पहले उसका प्रतिपादन करे और फिर स्वयं ही उसको मिथ्या, भ्रम आदि कहे ? ऐसा मानने में श्रुति की व्यर्थता आपन्न होगी।

जगत् उत्पत्ति-विनाशशील है। इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश यथार्थ हैं। इसकी उत्पत्ति आदि का अनुभव सबको होता है। यदि इन्द्रियादि से होने वाले अनुभव को भ्रम या स्वप्नवत् मानें तो ब्रह्म का ज्ञान भी संभव न हो सकेगा।

जगत् का कारण

इस दृश्यमान जगत्प्रपञ्च के कारण के विषय में भी आचार्य जयतीर्थ का विचार अत्यन्त स्पष्ट है। उनके अनुसार प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। ब्रह्म या परमेश्वर जगत् का निमित्तकारण है। जगत् की उत्पत्ति में ब्रह्म का वैसा ही कारणत्व है जैसा पुत्र की उत्पत्ति में पिता का। ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं है। शंकर और रामानुज ने ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण माना है जिसका जयतीर्थ ने विशद रूप से खण्डन किया है।[1]

परिणामवाद और उसका खण्डन

रामानुज जगत्-कारणत्व के विषय में परिणामवाद के समर्थक हैं। उनके अनुसार ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण मात्र नहीं अपितु उपादान कारण भी है। 'प्रकृतिश्चप्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्'[2] मीमांसा सूत्र को उन्होंने जगत् के प्रति ब्रह्म का उपादानत्व बताने वाला व्याख्यात किया है। यह सूत्र स्पष्ट करता है ब्रह्म जगत् की प्रकृति अर्थात् उपादान कारण भी है, क्योंकि

---

१. न्या० सु०, पृ० १६४-२०४

२. ब्रह्मसूत्र १। ४। २३

इससे प्रतिज्ञा और दृष्टान्त उपरुद्ध नहीं होते। `येनाश्रुतं श्रुतं भवति`[1] इत्यादि में `ब्रह्म विज्ञान से सर्वविज्ञान हो जाता है`, ऐसी प्रतिज्ञा की गयी है। यह प्रतिज्ञा ब्रह्म को जगत् का उपादान मानने पर ही उपपन्न होती है, क्योंकि `कार्य` अपने उपादान कारण से अव्यतिरिक्त होता है, अत: उपादान कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान हो जाता है। ब्रह्म को केवल निमित्तकारण मानने पर यह प्रतिज्ञा उपपन्न नहीं होगी, क्योंकि निमित्तकारण से अव्यतिरिक्त `कार्य` नहीं होता, किन्तु सर्वथा भिन्न होता है, जैसे प्रासाद और उसके निमित्तकारण `कारीगर` को भिन्न-भिन्न देखा जाता है। `यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन`[2] इत्यादि दृष्टान्त ब्रह्म की जगत् के प्रति उपादानता बतलाने वाले हैं। `यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते`[3] मे इस श्रुति वाक्य `यत:` पद में प्रयुक्त पञ्चमी विभक्ति से ब्रह्म का उपादानत्व सूचित होता है। क्योंकि `जनिकर्तु: प्रकृति:`[4] व्याकरण सूत्र `प्रकृति` में पञ्चमी विभक्ति का विधान करता है। `सोऽकामयत बहुस्याम्`[5] इत्यादि में अभिधानपूर्वक बहुत होने के उपदेश से भी ब्रह्म का निमित्तत्व और उपादानत्व सूचित होता है।

इसके अतिरिक्त `सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति`[6] इस श्रुति में आकाश-पद-वाच्य साक्षात् ब्रह्म को कारण बताते हुए जगत् की उत्पत्ति और प्रलय कहे गये हैं। यह सर्वमान्य है कि जो वस्तु जिससे उत्पन्न और जिसमें लीन होती है, वह उसका उपादान कारण होता है, जैसे धान्य पृथिवी से ही उत्पन्न और उसी में लीन होते हैं,

---

१. छान्दोग्य० ६।१।३

२. छान्दोग्य ६।१।४

३. तै० उ० ३।१

४. अष्टाध्यायी १।४।३०   ५. तै० उ० २।६

६. छान्दोग्य० १।९।१

~~६. तै० ३।१~~

अत: पृथ्वी उनका उपादान कारण मानी जाती है । कार्य का लय उपादान से अन्यत्र नहीं देखा जाता है,क्योंकि वह उसी का परिणाम होता है । `तदात्मानं स्वयमकुरुत`[1] इस श्रुति वाक्य में आत्मा का ही कर्मत्व और कर्तृत्व कहा गया है । पूर्वसिद्ध आत्मा होते हुए भी आत्मा (ब्रह्म) ने स्वयं को विकारस्वरूप विशेष से परिणत कर लिया । इस प्रकार उसमें क्रियमाणत्व उपपन्न होता है । `यद्भूतयोनिम्`[2] इत्यादि श्रुति वाक्य और `योनिश्च हि गीयते`[3] सूत्र में ब्रह्म को योनि कहा गया है और योनि शब्द को उपादान-वचन माना जाता है ।

उक्त परिणामवादी मत सर्वथा असंगत है । सूत्रों का अर्थ अन्य प्रमाणों से अविरुद्ध करना चाहिए । ब्रह्म को जगत् का उपादान मानना श्रुत्यादि के विरुद्ध है । परिणामी कारण को उपादान कहा जाता है जैसे मिट्टी घटादि का और सुवर्ण कुण्डलादि का उपादान है ; मिट्टी और सुवर्ण परिणामी हैं । ब्रह्म के रूपान्तर की आपत्ति-रूप, विकार के अपर पर्याय, परिणाम का श्रुत्यादि में निषेध किया गया है । ब्रह्म सदा एक रस और अविकारी है, उसका विकारित्व युक्तिविरुद्ध है ।

परिणाम के प्रकार[4]—

विकार या परिणाम दो प्रकार का होता है —
(१) विशेषणाप्ति परिणाम और (२) विशेषपरिवृत्ति परिणाम । धर्मी के उसी अवस्था में रहने पर भी धर्म मात्र में परिवर्तन हो जाने को विशेषणाप्ति कहते हैं और धर्मी के स्वरूप में ही परिवर्तन हो जाने को विशेष परिवृत्ति कहते

---

१. तै० २।७

२. मुण्ड० १।१।६

३. ब्रह्मसू० १।४।२७

४. द्रष्टव्य—न्या० सु०, पृ० १६५

हैं। ये दोनों ही प्रकार के परिणाम पराधीन होते हैं। ये दोनों पुनः दो प्रकार के होते हैं—(१) अनिवर्त्य-अन्यथाभाव और (२)निवर्त्य-अन्यथाभाव।

(१) अनिवर्त्य-अन्यथाभाव विशेषाप्ति—

इसका उदाहरण है हरितफल में पीतत्व का आना। इस परिणाम में धर्मी रूप फल उसी अवस्था में रहता है; उसके फलत्व-व्यवहार की निवृत्ति नहीं होती है, केवल हरितत्व दूर होकर सूर्यातप इत्यादि के वश पीतत्व उत्पन्न हो जाता है,यह परिणाम निर्मिभित नहीं होता है।

(२) निवर्त्य विशेषाप्ति—

जैसे कुण्डलादि आकार वाले सुवर्ण का कटकादि रूप में परिवर्तन। यहां भी धर्मी सुवर्ण उसी अवस्था में रहता है क्योंकि कटकादिरूप हो जाने पर भी उसमें सुवर्णत्व-व्यवहार होता है,किन्तु स्वर्णकार के अधीन उसमें 'कुण्डलत्व' भाव दूर करके कटकत्व भाव उत्पन्न कर दिया गया है। उसका यह परिणाम निवर्त्य है। उसे पुनः कुण्डलरूप में परिवर्तित किया जा सकता है।

(३) अनिवर्त्यविशेषपरिवृत्ति—

जैसे दूध का दही रूप में परिणत हो जाना इस परिणाम में धर्मी दूध की अवस्था ही परिवर्तित हो जाती है, उसमें अब 'दूध' का व्यवहार नहीं किया जाता है। धर्मिभूत दूध ही आतञ्जन के वश दही हो जाता है। उसका दधिभाव हटाकर पुनः दूध नहीं किया जा सकता है।

(४) निवर्त्यविशेषपरिवृत्ति—

जैसे शुल्ब (ताम्र) का ताररूप (रजत) में परिणत होना। इस परिणाम में भी धर्मी की पूर्व अवस्था नहीं रहती है। तारत्व की अवस्था में उसमें शुल्ब का व्यवहार नहीं होता है। औषध विशेष के अधीन शुल्ब ही तार रूप में परिणत हो जाता है। यह परिणाम निवर्त्य है; प्रबल औषध के बल से पुनः तार

को शुल्ब रूप में परिणत किया जा सकता है ।

इनसे अतिरिक्त कोई पांचवे प्रकार का परिणाम नहीं होता । ऊपर बताये गये सभी विकारभाव पराधीन होते हैं । उक्त चारों प्रकार के परिणामों में से कोई भी परिणाम ब्रह्म में नहीं है । ब्रह्म के विकार का कोई निमित्त भी नहीं है । 'सदेव सोम्य' इत्यादि में सृष्टि के पूर्व ब्रह्म के अन्य वस्तु होने का निषेध किया गया है । परिणामवादी प्रलय में काल की सत्ता भी नहीं मानते, जिससे उसे निमित्त कहा जा सके । यदि काल को निमित्त मानें भी तो ब्रह्म में पराधीनता की आपत्ति होगी ।

'उक्त चारों प्रकार के पराधीन विकार जडपदार्थों में होते हैं । चेतन ब्रह्म तो स्वयं ही जगत् के रूप में परिणत होता है, क्योंकि 'तदात्मानं स्वयमकुरुत'[1] इत्यादि श्रुति उसके स्वयंकर्तृत्व को कहती है '— यह पूर्वपक्ष का कथन ठीक नहीं है । कोई भी नानाविध अनर्थरूप वाले प्रपञ्च के रूप में होने की इच्छा नहीं करता है ; वह ब्रह्म कैसे इस जगत् प्रपञ्च के रूप में होने की इच्छा करेगा ? ऐसा भी नहीं है कि वह जगत प्रपञ्च की अनर्थरूपता को न जानता हो ; क्योंकि ऐसा मानने पर उसमें असर्वज्ञता की आपत्ति होगी । यह प्रपञ्च ब्रह्म का अनर्थरूप नहीं है - यह कल्पना भी ठीक नहीं है। दु:खादिरूप में परिणत हुए में दु:खादि-रूपता नहीं है - ऐसा कहने में व्याघात है । परिणामवादी विवर्तवादियों की तरह प्रपञ्च को कल्पित नहीं मानते हैं, वे इसे सत्य रूप से स्वीकार करते हैं । प्रपञ्च के कल्पित होने की स्थिति में उसे अनर्थरूपता से रहित माना जा सकता था । 'दु:खादिमत्व तो अनिष्ट है, किन्तु दु:खादिरूपता अनिष्ट नहीं है '—यह कल्पना भी अनुपयुक्त है । ऐसा मानने पर तो सुखरूप इष्ट नहीं होगा और मोक्ष के लिये प्रवृत्ति नहीं होगी । यदि यह कहा जाय कि यह दु:खादि रूप ब्रह्म का अनर्थरूप नहीं है, तो प्रश्न उठता है कि वह किसका अनर्थरूप है ? यदि यह जीव का अनर्थरूप है तो वह जीव ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न ? उसे ब्रह्म से भिन्न मानने

---

१. तै० २।७

पर अपसिद्धान्त होगा, क्योंकि परिणामवादी जीव को ब्रह्म से अभिन्न मानते हैं। और अभिन्न मानने पर ब्रह्म का अनर्थरूप होगा। ब्रह्म और जीव के अभेद का निराकरण 'ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।

इसके अतिरिक्त चेतन की भी विक्रिया दृष्ट और अदृष्ट कारणों से होती है, तो ब्रह्म की विक्रिया स्वेच्छामात्र से कैसे सम्भव होगी ? यदि ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता के कारण उसमें स्वेच्छा से विक्रिया मानें तो ठीक नहीं है, क्योंकि अनर्थ रूप वाले में सर्वशक्तिमत्ता अनुपपन्न होगी। 'ब्रह्म तर्कगम्य नहीं है इसलिये दृष्टान्तों के आनुगुण्य और वैगुण्य से उसको नहीं समझा जा सकता है, अतः दृष्टान्तों का विचार यहाँ उपयुक्त नहीं है। ब्रह्म श्रुतिमात्र सिद्ध है, और श्रुति ब्रह्म को अन्य-निरपेक्ष प्रपञ्च-रचना बताती है'— ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। ऐसा मानने पर विचारशास्त्र का आरम्भ ही नहीं होगा।

पूर्वपक्षी का कथन है कि 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च'[1] और 'पिताहमस्य जगतो माता'[2] इत्यादि में ब्रह्म का उपादानत्व विवक्षित है। ऊर्णनाभि का तन्त्वादि के प्रति उपादानत्व होता है। जयतीर्थ ऐसे उपादानत्व को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म जगत् का उपादान उसी प्रकार से है जिस प्रकार पुत्र का उपादान पिता है। पित्रादि और पुत्रादि के चेतन और अचेतन के समाहार रूपत्व से चार पक्ष हो सकते हैं —

(१) पित्रादि-चेतन पुत्रादि-चेतन के प्रति उपादान है।

(२) पित्रादि-चेतन पुत्रादि-अचेतन के प्रति उपादान है।

(३) पित्रादि-अचेतन पुत्रादि-चेतन के प्रति उपादान है।

(४) पित्रादि-अचेतन पुत्रादि-अचेतन के प्रति उपादान है।

---

१. मुण्डक० १।१।७

२. गीता ९।१७

इनमें से प्रथम तीन पक्ष उपपन्न नहीं हैं। प्रथम पक्ष में दोनों ही चेतन हैं। दोनों की पृथक् वर्तमानता में एक चेतन को दूसरे के प्रति उपादान नहीं कहा जा सकता है। द्वितीय और तृतीय पक्ष में एक चेतन है और दूसरा अचेतन। चेतन और अचेतन में उपादानत्व रूप से परस्पर कार्य-कारणत्व नहीं हो सकता है; क्योंकि कारण के गुण ही कार्य में होते हैं चतुर्थ पक्षही उपपन्न है। पित्रादि के द्वारा उपभुक्त अन्न जो शरीरभूत है वह पुत्रादिगत अचेतन अंश का उपादान होता है। इसी प्रकार ऊर्णनाभि का दृष्टान्त भी उपपन्न होता है। ऊर्णनाभि के द्वारा उपभुक्त अन्न से परिणत उसकी शरीरधातुएं तन्त्वादि कार्य रूप से परिणत होती हैं। महाप्रलय में परमेश्वर के द्वारा निगीर्ण महदादि कार्य उसके शरीररूप प्रधानता को प्राप्त होते हैं। वही प्रधान पुनः महदादि कार्य का उपादान होता है।

बिना अपने स्वरूप से प्रच्युत हुए ब्रह्म का आकार परिणाम यह प्रपञ्च होता है - ऐसा मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर `अस्थूलत्वादि` श्रुति का विरोध होगा स्वरूप की अपेक्षा से इसकी उपपत्ति नहीं होती है, क्योंकि स्वरूप में ही तो स्थूलत्वादि उत्पन्न होते हैं। स्वरूप से प्रच्युति हुए बिना परिणाम नहीं हो सकता है। कुण्डलत्व भाव के अपगम हुए बिना उस सुवर्ण में कटकत्व नहीं आ सकता है। यदि कहा जाय कि स्वभाव की अपेक्षा से प्रपञ्च रूप परिणाम उपपन्न होता है तो भी ठीक नहीं है। कालभेद से स्थूलत्वादिभाववान् और स्थूलत्वादिरहित होने वाले इसका यह स्वभाव है, यह इसका स्वभाव नहीं है` ऐसा विवेक नहीं होता है। ब्रह्म में किसी अन्य कारण से प्रपञ्च की आपत्ति होती है ऐसा परिणामवादी नहीं मानते हैं,जिससे यह माना जा सके कि यह जगत् प्रपञ्च उसका स्वभाव नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रपञ्चाकारता के अनिवार्य होने के कारण प्रलयश्रुति का व्याघात होगा तथा मोक्ष के अभाव का भी प्रसंग होगा; क्योंकि पूर्वपक्षी मोक्ष को निष्प्रपञ्च ब्रह्मभावापत्तिरूप मानते हैं। ब्रह्म की स्वरूपप्रच्युति मानने पर भी प्रपञ्चरूपता उपपन्न नहीं होगी। उस दशा में जगत् की स्थिति के समय ब्रह्म के अभाव का प्रसंग होगा

और ब्रह्मज्ञान निरालम्ब होगा। और उस प्रपञ्चरूपता के अनिवर्त्य होने पर कभी भी ब्रह्म का अस्तित्व नहीं होगा।

ब्रह्म का कर्तृत्व –

श्रुतियों, पुराणों और युक्तियों से ब्रह्म का निर्विकारत्व ही ज्ञात होता है, अत: वह जगत् का उपादान कारण नहीं, अपितु निमित्त कारण ही है। ब्रह्म को जगत् का कर्ता कहने पर उसका विश्व के प्रति उसी प्रकार का तटस्थ कर्तृत्व प्राप्त होता है जिस प्रकार कुलाल का घट के प्रति होता है। यह कर्तृत्व बुद्धिपूर्वक है। ईश्वर प्रधानादि को परिणामादि शक्तियों को प्रेरित करता है। वह इच्छा मात्र से कारण होता है परिणामी रूप से नहीं। उस ईश्वर के द्वारा प्रेरित गुणत्रयात्मक प्रधान जगद् रूप में परिणत होता है। यह जगत् संहृत किये गये पूर्वकल्प के जगत् के सदृश होता है[1]। अचेतन महदादि चेतन का विकार नहीं हो सकते, जैसे अचेतन घट चेतन कुलाल का विकार नहीं होता है। कार्य-स्वरूप कारणस्वरूप का अनुगमन करता है। यदि कारणस्वरूप के अनुगम के बिना ही विधारि-विकारभाव माना जाय तो चेतन को भी अचेतन का विकार मानना पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त जगत् ब्रह्म से भिन्न रूप से उपलब्ध होता है। जो जिससे भिन्न रूप से उपलब्ध होता है वह उसका विकार नहीं होता, जैसे पट से भिन्न उपलब्ध होने वाला घट, पट का विकार नहीं है। और जो जिसका विकार होता है, वह उससे भिन्न उपलब्ध नहीं होता; जैसे दूध का विकार दही उससे भिन्न उपलब्ध नहीं होता। चूंकि जगत् ब्रह्म से भिन्न उपलब्ध होता है, अत: जगत् ब्रह्म का विकार नहीं है[2]।

---

१. यथापूर्वमकल्पयत् (ऋ० सं० १० । १९० ।३)

२. द्रष्टव्य न्या० सु० पृ० ३९९

पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्रह्म दो रूपों वाला है— अनन्तानन्द चिदात्मक और सदात्मक। चिदात्मक रूप से वह जगत् का निमित्त कारण है और सदात्मक रूप से उपादान। इस प्रकार ब्रह्म का निर्विकारत्व चिदात्मकरूप-विषयक होने से दूषित नहीं होता और चित्शक्ति रूप निमित्त-कारण से, प्रकृति प्रधानादि नामों से अभिहित सद् शक्ति वाला ब्रह्म जगद् रूप में परिणत होता है। ऐसा स्वीकार करने पर युक्ति विरोध भी नहीं होगा। सदात्मक ब्रह्म को जगत् का उपादान स्वीकृत करने पर चैतन्यादि का अनुगम न होना भी दोष नहीं है, क्योंकि सद् का अनुगम तो विद्यमान हो है। जगत् को ब्रह्म से अन्यत्वरूप से उपलब्धि भी विरुद्ध नहीं होगी। जिस सर्वज्ञ अर्थात् चिदात्मक से अन्यत्व उपलब्ध होता है, वह निमित्तकारण ही है, उपादान नहीं ; और जो सद् रूप उपादान है, उससे भेद रूप से उपलब्धि नहीं होती है।

पूर्वपक्ष का उक्त कथन भी उपयुक्त नहीं है। यदि ब्रह्म के सद् भाग से परिणाम और चिद्भाग से निर्विकारत्व स्वीकृत करते हैं तो प्रश्न उठता है कि उन दोनों भागों में अभेद है या भेदाभेद ? भेद तो पूर्वपक्षी को अभिमत नहीं है। उनमें अभेद नहीं कहा जा सकता है। उनमें अभेद मानने पर दोनों में परिणामित्वादि की प्राप्ति होगी और दो भागों की कल्पना भी व्यर्थ होगी। भेदाभेद भी नहीं माना जा सकता है ; क्योंकि ऐसा मानने पर अभेद से संकर का प्रसंग होगा। यदि कहें कि भेद अभेद कार्य को रोकता है तो फिर अभेद मानने का प्रयोजन ही क्या है ? तब तो उन दोनों भागों में अत्यन्त भेद स्वीकृत करना चाहिए। अत्यन्त भेद मानने पर परस्पर दो भिन्न वस्तुओं में से एक निर्विकार और जगत् का निमित्त कारण ही होगा और दूसरा परिणामी और उपादान होगा इस मत में हमें कोई विवाद नहीं है। निर्विकार और जगत् के निमित्तकारण को हम ईश्वर तथा परिणामी एवं जगत् के उपादान को प्रधान रूप से स्वीकृत करते हैं।

पञ्चमी विभक्ति आदि से उपादानत्व सिद्ध नहीं होता है—

पूर्वपक्षी ने परिणामवाद के समर्थन में जो 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' इस व्याकरण सूत्र की सहायता से 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति के द्वारा ब्रह्म को जगत् का उपादान सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है, वह भी उपयुक्त नहीं है। 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' सूत्र 'अपादान' संज्ञा करने वाला है, और अपादान संज्ञा होने पर 'अपादाने पञ्चमी' सूत्र अपादान में पञ्चमी का विधान करता है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'अपादान में पञ्चमी विहित है; और अपादान विशेष ही उपादान है, यह 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' से सूचित होता है, अतः अपादान में विहित पञ्चमी उपादान में होगी, और इस प्रकार पञ्चमी का नियम से उपादानत्व असिद्ध नहीं होगा'— तो यह ठीक नहीं है। 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' सूत्र के अनुसार जायमान की जो प्रकृति अर्थात् उपादान-संसृष्ट और अपाय में अवधिभूत जो द्रव्य वह कारक अपादान संज्ञक होता है। 'शृङ्गाच्छरो जायते' इत्यादि वाक्यों में शृङ्गादि एकदेश से शरादि के प्रति उपादान होते हैं तथा एकदेश से अपाय में अवधितया कारक होते हैं। ऐसा न होने पर एक देश की उपादानता उपपन्न नहीं हो सकती है। 'मुद्ग, माष आदि में यद्यपि तुष (भूसी या छिलके) के अन्दर अवस्थित अंश ही अङ्कुर का उपादान होता है, तथापि तुष संसृष्ट होने पर वे अङ्कुर के जनक होते हैं, तुषरहित अंशों में स्वयं अङ्कुर-जनकता नहीं होती है। अतः अवधि ही अपादान और पञ्चमी से वाच्य होता है। इसी प्रकार जगत् का उपादान प्रधान है, 'यतो वा इमानि' इत्यादि में पञ्चमी के बल से प्रधान से संसृष्ट ब्रह्म का अवधित्व ही सिद्ध होता है, उपादानत्व नहीं। 'प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः' में भी परिणत भाग से संसृष्ट हुआ अपरिणत अवधिभूत भाग ही पञ्चमी का विषय है। जहां सम्पूर्ण का परिणाम होता है वहां पञ्चमी का प्रयोग नहीं होता। जैसे दूध का सम्पूर्ण रूप से दधिरूप परिणाम होता है, वहां 'क्षीराद् दधि जातम्' ऐसा प्रयोग नहीं किया जाता अपितु 'क्षीरमेव दधि जातम्' प्रयोग किया जाता है।

इसके अतिरिक्त उपादान और अपादान में व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से स्पष्ट विप्रतिषेध है — 'उपादीयते कार्यमनेन स्वरूपतया स्वीक्रियत इत्युपादानम्' और 'अपादीयते परित्यज्यतेऽनेन इत्यपादानम्'[1] । यदि 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' यह सूत्र उपादान की अपादान संज्ञा करता तो 'ध्रुवमपायेऽपादानम्'[2] अनावश्यक होता । अपाय में उपादान का ध्रुवत्व नहीं है ।

'सोऽकामयत बहु स्याम्' श्रुति भी ब्रह्म को उपादानता नहीं सूचित करती है । इस श्रुति का अर्थ यह है कि उस निर्विकार ब्रह्म ने मूर्तामूर्तात्मक विश्व की सृष्टि करके 'उन अनन्त पदार्थों के प्रेरक अनन्त रूपों से बहुत हो जाऊँ' ऐसी कामना की । इस प्रकार जगत् के प्रति ब्रह्म की उपादानता सर्वथा अनुपपन्न है । प्रकृति को ही जगत् का उपादान और ब्रह्म को निमित्त कारण मानना उपयुक्त है ।

---

१. न्या० सु० पृ० २०१

२. अष्टाध्यायी १।४।२४

विवर्तवाद और उसका खण्डन

जगत् और उसके उपादान के विषय में आचार्य शंकर और उनके अनुयायियों के विचारों का भारतीय दार्शनिक जगत् में अद्वितीय स्थान है। इस विषय में शंकर का सिद्धान्त विवर्तवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत के अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त है अर्थात् जगत् की सृष्टि या प्रतीति भ्रममात्र है। ब्रह्म नित्य, शुद्ध, मुक्तस्वभाव, सर्वथा निष्क्रिय, निर्विशेष, निर्गुण निराकार कूटस्थ एवं निर्विकार है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ की सत्ता ही नहीं है। ब्रह्म ही इस मिथ्याजगत् का अधिष्ठान है, वही इसका उपादान एवं निमित्तकारण है। जैसे रज्जु में मिथ्याज्ञान या भ्रम के वश ~~उसमें~~ सर्प की प्रतीति होती है, यथार्थतः उसमें सर्प की स्थिति त्रिकाल में नहीं है, रज्जु का सर्परूप से परिणाम नहीं होता। उस मिथ्या सर्प का अधिष्ठान रज्जु ही है। यही उसका उपादान है। इसी प्रकार नित्यशुद्ध ब्रह्म में जगत् की यथार्थतः स्थिति त्रिकाल में नहीं है, मिथ्या दृष्टि या अज्ञान के वश उसमें मिथ्याभूत जगत् के रूप का आरोप किया जाता है। इसका अधिष्ठान ब्रह्म ही है। इस प्रकार के सिद्धान्त को मानते हुए अद्वैतवाद में 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्' इत्यादि सूत्रों से ब्रह्म को जगत् के प्रति उपादानत्व की सिद्धि करते हैं। यह उपादानत्व परिणामित्वरूप नहीं अपितु अविद्या के परिणाम से मिथ्याभूत जगत् के भ्रम की अधिष्ठानता रूप से है। चूंकि इस मत में ब्रह्म में तत्वतः परिणाम नहीं स्वीकार किया जाता है, इसलिए इसे विवर्तवाद कहते हैं। जयतीर्थ ने इस मत की विशद आलोचना की है।

उक्त मायावादिमत अत्यन्त असंगत है। वे मिथ्या प्रपञ्च की प्रतीति मिथ्या दृष्टि के कारण मानते हैं। यहां प्रश्न उठता है कि वह मिथ्या दृष्टि ब्रह्मगत है या अन्य पदार्थगत? यदि ब्रह्म की ही मिथ्यादृष्टि है अर्थात् उसे ही जगत् का भ्रम है तो यह अङ्गीकृत करना पड़ेगा कि उसे विशेष का ज्ञान नहीं है, क्योंकि भ्रम विशेषाज्ञानपूर्वक होता है, और ऐसी स्थिति में उसमें सर्वज्ञता नहीं होगी। अब यदि सर्वज्ञता ब्रह्म में नहीं है तो किसमें है? यह बोध-

में नहीं हो सकती है । जीव अल्पज्ञ होता है यह सभी के अनुभव से सिद्ध है । जड़ में तो ज्ञान मात्र ही असंभव है, उसमें सर्वज्ञता का क्या कहना ।

इस अनुभव-विरोध के अतिरिक्त ब्रह्म को सर्वज्ञ बताने वाली 'य: सर्वज्ञ: सर्ववित्' इत्यादि श्रुति की व्यर्थता भी होगी । यदि कहा जाय कि सर्वज्ञता भी भ्रान्ति से ही है तो ठीक नहीं, सर्वज्ञता कैसी भी हो, विशेषाज्ञान की विरोधिनी तो अवश्य ही है ; अन्यथा शुक्ति का ज्ञान होने वाले को भी उसका अज्ञान विरुद्ध नहीं होगा, और इस प्रकार भ्रम के अनुच्छेद का प्रसंग होगा। वस्तुत: तो ब्रह्म में भ्रम उपपन्न ही नहीं है, क्योंकि भ्रम विशेष का अनवभास न होने के कारण होता है, और मायावादियों के अनुसार ब्रह्म में विशेष का अभाव है । ब्रह्म का स्वरूप तो स्वप्रकाशतया सिद्ध है, स्वप्रकाशसिद्ध वस्तु में भ्रम सम्भव नहीं है । यदि ब्रह्म का स्वरूप असिद्ध हो तो भी भ्रम अनुपपन्न नहीं होगा । अधिष्ठान की उपलब्धि के बिना भ्रम नहीं हो सकता है ।

द्वितीय विकल्प के अनुसार यदि जगत् की भ्रान्ति ब्रह्म से व्यतिरिक्त जीवाश्रया है तो जीव और ब्रह्म की अन्यता स्वाभाविक माननी पड़ेगी, क्योंकि भ्रान्ति का आश्रय भ्रान्तिकल्पित नहीं माना जा सकता। और जीव और ब्रह्म की अन्यता स्वीकृत करने पर मायावाद का अपसिद्धान्त होगा । यद्यपि मायावादी जीव और ब्रह्म के भेद को वास्तविक नहीं मानते हैं,[1] तथापि यदि इस भेद को वास्तविक मान भी लें तो भी भ्रम उपपन्न नहीं होता है । यदि उक्त भेद को वास्तविक मानकर अनात्म प्रपञ्च को भ्रान्तिकल्पित मानें तो ब्रह्म व्यतिरिक्त जीवों का कल्पित न होना तो मानना ही पड़ेगा साथ ही देहेन्द्रियों को भी अकल्पित स्वीकृत करना पड़ेगा, क्योंकि इन्द्रिय ही आरोप का कारण होती है और देह इन्द्रियों का आश्रय है । देहयोग से रहित जीव के इन्द्रियरहित होने से उसे पदार्थों का सन्दर्शन नहीं हो सकता । मायावादी इस प्रपञ्च का रजतादि या सुखादि के समान साक्षिमात्र-सिद्धत्व नहीं मानते अपितु इन्द्रियों से ही अनुभूत

---

१. न्याय० सु०, पृ० २०५

होना मानते हैं। अब चूंकि देहेन्द्रिय उत्पत्तिमान् है इसलिए उनका कारण भी मानना पड़ेगा। अब 'ब्रह्म व्यतिरिक्त जीव और उनके सकारण देहेन्द्रियां भले ही भ्रान्ति कल्पित हों, क्योंकि जीवों में दृष्टत्व है, इन्द्रियां करण हैं, देह इन्द्रियों का आश्रय है और देहादि उत्पत्तिमान् होने से सकारणक हैं; और ये सब भ्रान्ति के पूर्वभावी हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त प्रपञ्च तो भ्रान्ति कल्पित ही है'— ऐसा मानना भी असंगत है। अनन्त जीवों और सकारणक देहेन्द्रियों के अतिरिक्त प्रपञ्च का अभाव है, यही जीव, देहेन्द्रियादि ही तो प्रपञ्च हैं। विषय भी देहेन्द्रियों के निर्वाहार्थ ही है। इस प्रकार केवल अपसिद्धान्त ही नहीं अपितु 'प्रकृतिश्च' इत्यादि सूत्रों का निर्विषयत्व होगा।

'जीव ब्रह्म का भेद भी भ्रान्तिसिद्ध है। भ्रान्ति के कारण ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होने वाले जीव को बाह्य और आध्यात्मिक अर्थों का भ्रम होता है'— ऐसा पूर्वपक्ष का कथन असंगत है। यदि केवल प्रपञ्च ही नहीं अपितु जीव और ब्रह्म का भेद भी भ्रम से उत्पन्न माना जाय तो अन्योन्याश्रयता होगी, क्योंकि जीव और ब्रह्म के भेद का हेतु भ्रान्ति है और भ्रान्ति का कारण भावरूप अज्ञान है, जो भेद-सापेक्ष है। 'अज्ञान अनादि होने से भेद-सापेक्ष नहीं है'- यह कहना भी ठीक नहीं है। जीव ही अज्ञान का कल्पक है। ब्रह्म से व्यतिरिक्त जीव के अलावा अन्य कुछ अज्ञान का कल्पक नहीं है। अर्थात् जिस भ्रान्ति से जीव और ब्रह्म का भेद सिद्ध होता है, वह अज्ञानसापेक्ष है, क्योंकि भ्रान्ति को स्वरूपतया और विषयतया अज्ञान का कार्य माना जाता है।

यद्यपि भेदविषया भ्रान्ति साक्षिचैतन्यगत है तथापि उस असंग साक्षी ब्रह्म की आरोपित अर्थ से संसृष्टता अज्ञान के बिना उपपन्न नहीं होती है, और वह अज्ञान भेदसापेक्ष है क्योंकि उसे अनादि मानते हुए भी मायावादी उसका भ्रान्तिकल्पितत्व स्वीकृत करते हैं, अन्यथा उसके सत्यत्व की आपत्ति होगी; और भ्रान्ति को वे जीवाश्रित मानते हैं। भेद की कल्पना के बिना जीव का अभाव है। अविद्या का आरोप ब्रह्म में ही मानना ठीक नहीं है, उसी को सभी

का आश्रय मानने पर अर्थ-अरतोयानुपपत्ति होगी । इस प्रकार भ्रम, अज्ञान, जीव और भेद के अन्योन्य-सापेक्ष होने से चक्रकदोष होगा ; अथवा भेद के भ्रान्ति-कल्पित होने और भ्रान्ति के भेद-सापेक्ष होने से अन्योन्याश्रय दोष होगा ।

अज्ञान का आश्रय जीव को मानने में भी अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि जीव का कारण अज्ञान है और अज्ञान जीव-सापेक्ष है । इसे बीजाङ्कुर के समान अदोष नहीं कहा जा सकता है । इस दृष्टान्त से जीवाज्ञान का वैषम्य है । बीज और अङ्कुर में व्यक्तिभेद होने से अदोषत्व है, जीव और अविद्या में व्यक्तिभेद नहीं है । 'देहादि के भी भ्रान्ति-कल्पित होने से उसमें इन्द्रियों और प्रपञ्च का सन्दर्शन अनुपपन्न नहीं होगा ; एवं पूर्व पूर्व देहादि के विद्यमान होने से उसमें कारणाभाव भी नहीं होगा । अनादि होने से इसमें अनवस्था भी नहीं होगी' -- यह मानना भी ठीक नहीं है । आदि सर्ग में देहादि का दर्शन अनुपपन्न है। यह अर्थ साक्षिमात्र सिद्ध नहीं है यह ऊपर कह चुके हैं । तथा यदि पूर्व पूर्व देहादि का भ्रान्ति-सिद्ध होना प्रमित होता तो अनवस्था का परिहार भी हो सकता था, किन्तु ऐसा नहीं है । पूर्व पूर्व देहादि के प्रमित हुए बिना ही यदि अनवस्था का परिहार मान लें तो सर्वत्र ही अनवस्था का परिहार प्रसक्त होगा[1] ।

इस विषय में कोई प्रमाण भी नहीं है । 'नेह नानास्ति[2]' इत्यादि श्रुति को इस विषय में प्रमाण के रूप में नहीं प्रस्तुत किया जा सकता है । इस श्रुति से समग्र वियदादि जगत् का भ्रान्ति-कल्पितत्व नहीं माना जा सकता है । उपपत्ति के अविरुद्ध ही वेदार्थ का ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा 'अन्धो मणिमविन्दत[3]' इत्यादि के ग्रहण का भी प्रसंग होगा और विचारशास्त्र के अनारम्भ का भी प्रसंग होगा । 'नेह नाना' इत्यादि वाक्य का जो अर्थ मायावादी करते हैं, वह उपपत्ति-विरुद्ध है । यदि वियदादि सब कुछ भ्रान्तिसिद्ध

---

१. द्रष्टव्य - न्याया० सु०, पृ० २०६

२. बृह० उ० ४। ४। १६

३. महाभारत

होगा तो उसी के अन्तर्गत होने के कारण यह श्रुति भी भ्रमसिद्ध होगी । और भ्रमारोपित सब कुछ असत् है, इसलिये यह श्रुति भी असत् होगी और यथार्थज्ञान का हेतु नहीं होगी ।

'यह सारा जगत् प्रपञ्च भ्रमसिद्ध होने पर भी व्यावहारिक तो होता ही है, अत: इसके अन्तर्गत होने से श्रुति भी व्यावहारिक होगी, और वह यथार्थ ज्ञान का हेतु होगी '— ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है । विवर्तवाद को मानने पर व्यावहारिकता को अङ्गीकृत ही नहीं किया जा सकता । इस प्रपञ्च की व्यावहारिकता इसके अबाध्य होने पर ही हो सकती है, बाध्य होने वाली शुक्ति-रजत व्यावहारिक नहीं होती है । यदि प्रपञ्च को व्यावहारिक अङ्गीकृत करें तो उसे अबाध्य भी मानना पड़ेगा । किन्तु विवर्तवादी उसका अबाध्यत्व नहीं मानते, इसलिये उसे व्यावहारिक भी नहीं माना जा सकता है ।

'शुक्तिरजतादि बाध्य होने पर भी अभिज्ञा और कथन रूप व्यवहार का विषय बनते हैं, इसलिये व्यावहारिकत्व और अबाध्यत्व की व्याप्ति उचित नहीं है '— ऐसी शङ्का करना भी अनुपयुक्त है । यद्यपि बाध्य होने वाले शुक्तिरजतादि अभिज्ञादि व्यवहार का विषय अवश्य बनते हैं किन्तु वे अर्थक्रियाकारी नहीं होते, उस शुक्तिरजतादि से रजतोचित वलय-निर्माणादि अर्थक्रिया उत्पन्न नहीं होती है । यहां पर व्यावहारिकता का अर्थ अर्थक्रियाकारित्व ही है, अभिज्ञादि-विषयत्व नहीं, क्योंकि श्रुति का उपन्यास अर्थबुद्धि जनकत्व के उपपादन के ही लिये है । अत: उक्त तर्क को विफल नहीं कहा जा सकता है ।

बाध्यत्व शुक्तिकादि अधिष्ठान का धर्म है क्योंकि द्वैतवादी 'अन्यथा विज्ञातस्य सम्यग् विज्ञानम्' यह बाध्यत्व का लक्षण मानते हैं, और शुक्तिकादि अर्थक्रियाकारी हैं, अत: 'बाध्य अर्थ क्रियाकारी नहीं होता है' यह कैसे कह सकते हैं '— यह तर्क भी मायावादी के मत को मानने पर असंगत है । क्योंकि यहां पर मायावादियों द्वारा स्वीकृत निषेध्यत्व लक्षण बाध्यत्व का कथन किया जा रहा है ।

'रज्जु में सर्प का भ्रम होने पर सर्प के असत्य होने पर भी उसमें सर्पोचित भय, कम्प आदि अर्थक्रियाकारित्व होता है, इसलिये अबाध्यत्व और अर्थक्रियाकारित्व की व्याप्ति का भङ्ग होता है'— ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उपयुक्त नहीं है। 'यहां सर्प नहीं है' इस प्रकार का या 'सर्पज्ञान नहीं हुआ' ऐसा कोई बाधक नहीं है। अपितु 'सर्प का ज्ञान हुआ ही है' इस प्रकार की अनुवृत्ति होने से विषयवैपरीत्य मात्र से भ्रमत्व और भयादि की उपपत्ति होती है। सर्प के होने पर भी यदि उसका ज्ञान न हो तो भय, कम्प आदि की उत्पत्ति नहीं होती और सर्प के न होने पर भी ज्ञान होने पर भी भय, कम्प आदि उत्पन्न होते हैं। इसलिये भय कम्पादि ज्ञान के कार्य हैं सर्प के नहीं। सर्प के कार्य हैं, अभिसर्पण, दंशन आदि। मरण भी धातु-व्याकुलता-निमित्तक है, और वह धातु-व्याकुलता जिस प्रकार विष द्रव्य से होती है, उसी प्रकार भयादि से भी होती है। अत: बाध्य सर्पादि में अर्थक्रियाकारित्व नहीं है।

पूर्वपक्षी की ओर से यहां पर तर्क दिया जाता है कि ज्ञान की भयजनकता में दो विकल्प सम्भव हैं —(१) ज्ञानमात्र भय-जनक है या (२) विषयावच्छिन्न ज्ञान। इनमें से प्रथम विकल्प अस्वीकरणीय है। ज्ञानमात्र को भयादि-जनक मानने पर घटादिज्ञान भी भयादि का जनक होने लगेगा। यदि विषयावच्छिन्न ज्ञान भयादिजनक है तो 'यह रज्जु है' इत्यादि ज्ञान भी भयादि का हेतु होने लगेगा क्योंकि रज्जु आदि ही विषय है। 'सर्पादि को ज्ञान के विशेषणतया मानने पर उनका भी भयादिजनकत्व प्राप्त होता है। अन्य ज्ञान व्यावर्तकतया उपयुक्त सर्पादि विषय का ज्ञान-जन्य अर्थक्रिया में प्रवेश नहीं है अत: सर्पादिज्ञान को भयजनक मानने में दोष नहीं है। जैसे 'कुरूणां क्षेत्रे वसति', 'गुरूणां टीकां पठति' इत्यादि वाक्यों में 'कुरूणाम्' और 'गुरूणाम्' आदि विशेषणों का भी कारकत्व नहीं है किन्तु अतिप्रसक्त क्षेत्र और टीका की व्यावृत्तिमात्र में ही उनकी चरितार्थता है'— ऐसा द्वैतवादी का कथन ठीक नहीं है। उसका उक्त तर्क मान लेने पर भी बाध्य सर्पादि का व्यावर्तकत्व अवश्य ही मानना पड़ेगा। व्यावृत्तिबुद्धि-जनकत्व ही व्यावर्तकत्व है।

व्यावर्तक के ज्ञान को स्वीकृत करके परिहार करने पर भयादिजनकता में व्यावर्तक को उपादान मानना पड़ेगा और उक्त तर्क व्यर्थ ही होगा ।

पूर्वपक्ष की ओर से असत्यसर्पादि को भयादिजनकता के समर्थन में दिया गया तर्क उपयुक्त नहीं है । जैसा सत्य-सर्पोल्लेखि-ज्ञान होता है, वैसा ज्ञान भयादि का जनक है । सत्य सर्प का ज्ञान घटादि-ज्ञान से व्यावृत्त अनुभूत होता है, और व्यावृत्ति व्यावर्तक-धर्मकृता होती है । विषय व्यावर्तक नहीं होता क्योंकि वह उसका धर्म नहीं है । विषय से सम्बद्ध ही व्यावर्तक होता है । विषय का सम्बन्ध भी व्यावर्तक नहीं होता, क्योंकि वह संयोगादिरूप नहीं होता है,सम्बन्ध तो संयोगादि रूप है । अत: कोई ज्ञानगत धर्म ही व्यावर्तक होगा। इसके अतिरिक्त, विलक्षण सामग्री के जन्म और ज्ञान में जैसे परोक्षत्वापरोक्षत्वरूप विशेष विषय की उपाधि के बिना ही स्वीकृत किया जाता है, इसी प्रकार अपरोक्ष ज्ञान में भी स्वगतविशेष क्यों नहीं अङ्गीकृत किया जा सकता ? और सर्प-ज्ञान की विलक्षण अर्थक्रिया स्वगत अतिशय के बिना उपपन्न नहीं होती है । सर्प के सम्बन्ध मात्र से विलक्षण अर्थक्रिया नहीं उपपन्न हो सकती जैसे देवदत्त के सम्बन्ध मात्र से कलमबीज, अन्य कलमबीज के विलक्षण कार्य को उत्पन्न नहीं करता है,उसके लिये कलमबीज का स्वगत विशेष अवश्य होना चाहिए । वही स्वगत विशेष सर्प के ज्ञान में भी है । सत्य सर्प के ज्ञान में वह विशेष समीचीन सामग्री से उत्पन्न होता है और मिथ्या सर्प के ज्ञान में असमीचीन सामग्री से उत्पन्न होता है । विषय के अन्तर्भाव के बिना ही सर्पादि का ज्ञान स्वगत विशेष से ही भय आदि का जनक होता है इसलिये सर्प उसमें कुछ नहीं करता है[1]।

इस प्रकार यह निश्चित होता है कि जहां अर्थक्रिया होती है वहां मिथ्यात्व नहीं है, और जहां मिथ्यात्व है वहां अर्थक्रिया नहीं होती है, अत: व्याप्ति तर्कमूला है, इसका कहीं भी भङ्ग नहीं होता है[1]।

----

१. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० २०८

पूर्वपक्षी पुन: शङ्का करता है कि 'अर्थक्रियाकारित्व जिस प्रकार मिथ्याभूत विपक्ष से व्यावृत्त है, उसी प्रकार सपक्ष, सत्य ब्रह्म से भी व्यावृत्त है, अत: व्याप्ति में असाधारण्य दोष है। सत्यज्ञान 'अर्थक्रियाकारी होता है' — ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ज्ञान भी मिथ्याप्रपञ्च अर्थ में अन्तर्भूत है।

मायावादी का उक्त कथन उपयुक्त नहीं है। वे तो ब्रह्म प्रपञ्च से भी अतिशय रूप से अर्थक्रिया कार्य अङ्गीकृत करते हैं। 'जन्मादि' सूत्र में ब्रह्म को जगत् के कारण रूप से कहा है। इसलिये सपक्ष के प्रवेश से वे असाधारण्य नहीं मान सकते। यह कहना कि 'हमारे द्वारा अङ्गीकृत ब्रह्म का अर्थक्रियाकारित्व स्वाभाविक नहीं अपितु माया के अधीन होने के कारण परत: ही है', भी असंगत है। ब्रह्म का अर्थक्रियाकारित्व तो वे स्वीकृत ही करते हैं, वह स्वत: हो या परत:। स्वतस्त्व या परतस्त्व का विशेष प्रकृत प्रसंग में उपयुक्त नहीं है, क्योंकि हमने 'अर्थक्रियाकारित्व' को आपादक रूप से कहा है 'स्वत: अर्थक्रियाकारित्व' को नहीं और न ही विपक्षी ने ऐसा प्रस्तावित किया है, अन्यथा अग्नि के अनुमान में सामान्यत: प्रयुक्त धूम का विशेषाकार से सपक्ष में प्रवेश न होने से असाधारण्य कहा जा सकेगा और इस प्रकार वहां भी व्याप्ति-भङ्ग होगा।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'ब्रह्म के अर्थक्रियाकारित्व को परत: कहने का यह अर्थ नहीं है कि वह कठपुतली के समान पराधीन है, अथवा कुलालादि की तरह प्रयोजनादिसापेक्ष है; अपितु आकाश में जिस प्रकार मलिनता का कल्पित सम्बन्ध है उसी प्रकार निष्क्रिय ब्रह्म में भी माया के सम्बन्ध से अर्थक्रिया अवभासित होती है, और इस प्रकार आपादक का सपक्ष में प्रवेश न होताहो, ऐसा नहीं है' - तो भी ठीक नहीं है। ब्रह्म का अर्थक्रियाकारित्व परत: है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। हम पूर्वपक्षी से पूछते हैं कि ब्रह्म की जगन्निर्माणादि अर्थ-क्रिया प्रतीत है या नहीं? (१) यदि वह प्रतीत नहीं है तो उसे लक्षण रूप से कैसे कहा जा

सकता है ? और मायामयता किसको अङ्गीकृत करते हैं ? (२) यदि प्रतीत है तो वह प्रत्यक्ष और अनुमान से तो है नहीं, क्योंकि वह प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय नहीं है इसलिये श्रुति प्रमाण से ही उसकी प्रतीति माननी पड़ेगी । और बाधक के अभाव में श्रुति-प्रतीत सब कुछ सत्य है, मायामय नहीं । ब्रह्म की अर्थ-क्रिया के परतस्त्व में कोई प्रमाण नहीं है जो इसमें बाधक हो । स्वतः प्रामाण्य होने से बाधक के अभावमात्र से जगत् के सत्यत्व का निश्चय होता है । प्रामाण्य के परतस्त्व मानने से अवस्था होने से प्रमा का निश्चय नहीं हो सकेगा । इस विषय में `निष्कलम्`, `निष्क्रियम्` इत्यादि श्रुतियों को बाधक नहीं माना जा सकता है । इनको बाधक मानकर अर्थक्रिया को परतः मानने पर `स इदं सर्वम-सृजत` इत्यादि श्रुति प्रमा नहीं हो सकेगी । ऐसा नहीं है कि अर्थमिथ्यात्व का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों के अतिरिक्त श्रुतियों का अप्रामाण्य होता हो । इसके अतिरिक्त जिस प्रकार मायावादी `निष्कलम्`, `निष्क्रियम्` इत्यादि श्रुतियों को स्वतस्त्व में बाधक मानते हैं, उसी प्रकार समान रूप से `स इदं सर्वमसृजत` इत्यादि श्रुति के विरुद्ध होने से उक्त श्रुतियां प्रमा नहीं हैं` ऐसा भी अङ्गीकृत किया जा सकता है ।

जगत् की सत्यता में प्रमाण

विवर्तवाद की विशद आलोचना करने के पश्चात् जयतीर्थ ने जगत् की सत्यता प्रमाणों से सिद्ध की है[1]।

सर्वप्रथम आचार्य ने इस विषय में श्रुति प्रमाण को प्रस्तुत किया है। श्रुति प्रमाण से जगत् यथार्थतः सत्य है। यदि श्रुतियों को व्यावहारिक सत्यपरक माना जायगा तो `तत्सत्यम्`[2] इत्यादि श्रुतियां भी वैसी ही होंगी। यदि कहा जाय कि `नेह नानास्ति`[3] आदि जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादित करने वाली श्रुतियों के विरोध के कारण जगत् की सत्यता की प्रतिपादक श्रुतियां परमार्थ सत्यपरक नहीं है तो इसी प्रकार `तत् सत्यम्` इत्यादि श्रुतियां भी `असदेव`[4] इत्यादि के विरुद्ध होने से वैसी ही सिद्ध होगी। `पुरुषार्थ न होने से प्रपञ्च की सत्यता में श्रुतियों का तात्पर्य नहीं है`— ऐसा कहना ठीक नहीं है। सत्य जगत् का निर्मातृत्वादि-रूप जो परमेश्वर का माहात्म्य है,उसका ज्ञान ही परमपुरुषार्थ का हेतु है। यदि अद्वैतवादी कहे कि `पुरुषार्थ अद्वितीयत्वापत्तिरूप है और यह निष्प्रपञ्च आत्मा के ज्ञान से साध्य है। प्रपञ्च-सत्यत्व उक्तरूप पुरुषार्थ से विरुद्ध है`, तो समान रूप से यह भी कहा जा सकता है कि ब्रह्मसत्यत्व भी शून्य की परिभावना से प्राप्य शून्यतापत्तिरूप मोक्ष के विरुद्ध है। `अर्थक्रियाकारित्व होने से प्रपञ्च-सत्यता है`— यह अनुमान प्रमाण भी है, इसका उपपादन विवर्तवाद के खण्डन में विशद रूप से किया जा चुका है।

प्रत्यक्ष प्रमाण से भी जगत् की सत्यता सिद्ध है। प्रत्यक्ष से आन्तरिक सुखादि और बाह्य गगनादि का सत्यत्व सिद्ध है। आकाश, काल,

---

१. द्रष्टव्य न्याo सुo पृo २१०

२. छाoउo ६।८।६

३. बृo उo ४।४।१९

४. छाo उo ३।१९।१

दिक् आदि का सत्यत्व साक्षात् साक्षि-प्रत्यक्ष से सिद्ध है ।

साक्षि-प्रत्यक्षत्व -

जयतीर्थ ने यहां पर `साक्षि प्रत्यक्ष` कथन का स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है । यदि केवल `प्रत्यक्ष` कहते तो अतीन्द्रिय पदार्थों को सत्यता में प्रमाण कथित न होता और साक्षी के बिना बाह्य प्रत्यक्षमात्र से ऐन्द्रिय पदार्थों की भी सत्यता सिद्ध न होती इसलिये `साक्षिप्रत्यक्ष ` कहा है । तथा च यदि केवल `साक्षी` कहते तो `साक्षी ` प्रमाण नहीं है और यदि `साक्षी` प्रमाण हो तो प्रमाण के त्रैविध्य का भङ्ग होता और यह शङ्का होती कि विश्व का सत्यत्व प्रमित नहीं है । `इह विहंगमः पतति ` इस प्रकार नेत्र व्यापार के अनन्तर प्रतिभास होने से आकाशादि की चाक्षुषता मानना उपपन्न नहीं है । आकाश रूपरहित द्रव्य है, उसमें चाक्षुषता की सामग्री नहीं है,रूपरहित आकाशादि की चाक्षुषता मानने पर `आत्मा` वायु आदि को भी चाक्षुषता का प्रसंग होगा। यह आकाशादि का प्रतिभास साक्षिसिद्ध आकाशादि के सम्बन्धितया होता है । प्रमाणान्तर से गृहण किये गये प्रत्यक्ष से भी `सुरभिचन्दनम् ` इत्यादि विशिष्ट प्रत्यय देखा जाता है । आकाश की सिद्धि अनुमान और आगम से भी नहीं होती क्योंकि बालिबधिर लोगों को भी आकाश की प्रतीति होती है, अतः आकाश साक्षिसिद्ध ही है ।

पूर्वपक्षी का कथन है कि `गगनादि को साक्षिसिद्ध भले ही मान लिया जाय किन्तु इससे उनका त्रैकालिक बाधराहित्यरूप सत्त्व सिद्ध नहीं होता। प्रतीत हुए भी शुक्तिरजतादि का बाध देखा जाता है।`— उक्त कथन ठीक नहीं है । प्रत्ययों का प्रामाण्य औत्सर्गिक होता है, उनका अप्रामाण्य तो दोषापवाद से होता है ; और साक्षिज्ञान दोषजन्य नहीं होता है ।

आकाश, काल, दिग्, आत्मा, मन और सुखादि साक्षात्

साक्षिप्रत्यक्षसिद्ध हैं । इनके भिन्न पदार्थ यथोचित चक्षुरादि इन्द्रिय, लिंग अथवा शब्द प्रमाण से गम्य हैं । पदार्थों का भावाभावरूप ज्ञान सत्व रूप से स्वविषय का अवगाहन करता है, असत्वरूप से नहीं और न उदासीन रूप से । इस प्रकार से जब 'घटोऽस्ति' ज्ञान होता है तो वह देश-काल विशेष सम्बन्धी सत्ता के विषय से होता है ; कहीं पर विपरीत आकाङ्क्षा के व्यवच्छेद के लिये और कहीं पर व्याख्यान व्याख्येय भाव से । 'घटो नास्ति' यह ज्ञान देशकाल विशेष सम्बन्धी सत्ता के प्रतिषेधपरत्व से होता है । कोई कहीं पर सत् हुआ सम्पूर्ण देश काल में सत् होता है,ऐसा कोई नियामक नहीं है । ज्ञानगत याथार्थ्य-लक्षण प्रामाण्य का ग्रहण ज्ञानग्राहक के द्वारा ही होता है । ज्ञान ग्राहक साक्षी है यह उभयपक्ष को अविवाद रूप से स्वीकृत है । और इस प्रकार ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण करने वाले साक्षी के द्वारा उसके विषयभूत सकलप्रपञ्च का त्रैकालिक-अबाध्यत्वाद सत्यत्व ही गृहीत होता है[१] ।

यहाँ पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि यदि ज्ञानगोचर नित्य अथवा अनित्य, सर्वगत या असर्वगत अर्थ का स्वदेशकाल प्रकार में उसके असत्व का आवेदन रूप बाध होता है तो 'ज्ञान का प्रामाण्य साक्षी के द्वारा प्रमित है'-इसका क्या अर्थ है ? यदि ज्ञान के स्वरूप का ग्राहक साक्षी उसके प्रामाण्य का भी ग्रहण करता हुआ प्रपञ्च की सत्यता का निश्चय करता, तो शुक्तिरजतादिज्ञान के स्वरूप का ग्राहक भी उसके प्रामाण्य का भी ग्रहण करता हुआ शुक्तिरजतादि की सत्यता स्थापित करेगा । 'शुक्तिरजतादि ज्ञान का प्रामाण्य ही नहीं है तो साक्षी किसका ग्रहण करेगा— ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि इसी प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि प्रपञ्चगोचरज्ञानों का भी प्रामाण्य नहीं है तो साक्षी किसका ग्रहण करता है ?

पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि साक्षी किसी

---

१. द्रष्टव्य - न्या० सु०,पृ० २१६

भी ज्ञान का ग्रहण करता हुआ `यह प्रमाण ही है `— इस रूप से ग्रहण नहीं करता किन्तु यदि अदोष है तो `प्रमाण ` रूप से और यदि सदोष है तो `अप्रमाण ` रूप से ग्रहण करता है। जब प्रामाण्य का निर्धारण करना इष्ट होता है तब साक्षी सजातीय-विजातीय, संवाद-विसंवाद और भावाभाव रूप परीक्षा के द्वारा दोषाभाव का निश्चय करके ही प्रामाण्य का अवधारण करता है और दोष दर्शन होने पर अप्रामाण्य का। प्रपञ्च की प्रतीति में प्रयत्नपूर्वक अन्वेषण करके भी दोष न देखता हुआ उसके प्रामाण्य का ही अवधारण करता है अत: प्रपञ्च का सत्यत्व साक्षिसिद्ध है। किन्तु शुक्तिरजतादि का ज्ञान सदोष होने से उसमें अप्रामाण्य का निश्चय होता है। `शुक्तिरजतादि के ज्ञान के प्रामाण्य का भी निर्धारण होता ही है, नहीं तो उसमें प्रवृत्ति क्यों होती ? `— यह कथन ठीक है किन्तु शुक्तिरजतादि के ज्ञान के प्रामाण्य की वह अवधारणा साक्षिरूपा नहीं है अपितु वह मानसी अवधारणा है। मन में दोष का संसर्ग हो सकता है अत: मानसी अवधारणा से प्रामाण्य की सिद्धि नहीं होती है।[1]

यदि वाक्य और अनुमान से संसार की निवृत्ति सिद्ध होती है तो उस वाक्यादि का प्रामाण्य किससे निश्चित होता है ? साक्षीतर से प्रामाण्य के ग्रहण को अङ्गीकृत करने पर परत: प्रामाण्यग्रहण की आपत्ति होगी क्योंकि ज्ञान साक्षिवेद्य है ; अत: साक्षी से ही प्रामाण्य का ग्रहण मानना चाहिए। अब दो विकल्प उठते हैं — (१) साक्षी ब्रह्म के सत्यत्व के प्रतिपादक वाक्यादि के तात्कालिक प्रामाण्य का ही ग्रहण करता है या (२) आत्यन्तिक प्रामाण्य का ? प्रथम विकल्प मानने पर ब्रह्म के अबाध्यत्व की सिद्धि नहीं होगी। द्वितीय विकल्प स्वीकृत करने पर साक्षी जिस प्रकार ब्रह्म-सत्यत्व-प्रतिपादक वाक्यादि के वर्तमान कालीन प्रामाण्य का ग्रहण करता है उसी प्रकार सभी

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० २१७

कालों में ग्रहण करता है । अतः साक्षी ब्रह्मसत्यत्वादि-प्रतिपादक,वाक्यादि के केवल तात्कालिक नहीं अपितु आत्यन्तिक प्रामाण्य का ही ग्रहण करता है । यह साक्षी ब्रह्मादिविषयक वाक्यादि का प्रामाण्य स्थापित करता है इसलिये उसके विषय ब्रह्मादि को भी सभी कालों में स्थिर रूप से अतिशयेन व्यभिचार को दूर करके स्थापित करता है, क्योंकि विषय की अबाध्यता प्रामाण्य के आत्यन्तिकत्व के अन्तर्गत होती है[1]।

यह साक्षी यदि 'तत्सत्यम्'[2] इत्यादि वाक्य प्रमाणों के प्रामाण्य का आत्यन्तिक रूप से ग्रहण करता हुआ उसके विषय ब्रह्म के त्रैकालिक अबाध्यत्व को व्यवस्थापित करता है तो उसी प्रकार जगद्-विषयक प्रत्यक्षादि-ज्ञान के प्रामाण्य का आत्यन्तिक रूप से ग्रहण करता हुआ उसकी अन्तर्गता जगद् की अबाध्यता को भी स्थापित अवश्य करेगा । यह नहीं कहा जा सकता कि, 'साक्षी प्रत्यक्षादि ज्ञानों के आत्यन्तिक प्रामाण्य का ग्रहण करे किन्तु इससे जगत् की सत्यता या अबाध्यता सिद्ध नहीं होती', क्योंकि साक्षी की निर्दोष ज्ञान रूपत्वशक्ति से जगत् की अबाध्यता भी सिद्ध होती है । अन्यथा ब्रह्मसत्यत्वादि में भी अबाध्यत्व नहीं होगा । अथवा 'साक्षी तत्सत्यम्' इत्यादि वाक्यों के आत्यन्तिक प्रामाण्य का ग्रहण करता है किन्तु जगद्विषयक प्रत्यक्षादि ज्ञानों के केवल तात्कालिक प्रामाण्य का ग्रहण करता है'— यह कथन भी ठीक नहीं है । जब साक्षी 'तत्सत्यम्' इत्यादि ज्ञान के आत्यन्तिक प्रामाण्य का ग्रहण करता है तो किस निमित्त वाले ज्ञान का ग्रहण करता हुआ उसकी निर्दोषता में प्रामाण्य का भी ग्रहण करता है ? यदि यह साक्षी का स्वभाव ही है तो फिर प्रत्यक्षादि ज्ञान के भी आत्यन्तिक प्रामाण्य का ग्रहण क्यों नहीं करेगा ? वह ज्ञान भी तो निर्दोषज्ञानस्वरूपशक्ति से होने वाला है ।

---

१. द्रष्टव्य - न्या० सु० पृ० २१६

२.

एकजीववाद-खण्डन

एकजीववाद मायावादियों का परमअभीष्ट मत है । यह एक जीववाद निष्प्रमाण है । जयतीर्थ ने इसकी आलोचना सरल और स्वाभाविक तर्कों से की है । यदि जगत् एक जीव के अज्ञान से कल्पित होता तो उक्त मत स्वीकृत भी किया जा सकता था, किन्तु इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है । इसके विपरीत इसमें श्रुत्यादि प्रमाण है कि यह जगत् ईश्वर और उनके द्वारा प्रेरित ब्रह्मादि के ज्ञान इच्छा और प्रयत्न से निर्मित है[1] ।

समस्त जीवजडात्मक प्रपञ्च को एक जीव के अज्ञान से परिकल्पित मानने वाले विवर्तवादी से जयतीर्थ प्रश्न करते हैं कि 'वह एक जीव तुम हो या कोई अन्य ? यदि वह कोई अन्य है तो तुम भी उस अन्य के अज्ञान से कल्पित हो, तुम्हारे लिये बन्धमोक्षादि का अभाव होने से सन्यासादि व्यर्थ हैं । यदि वह जीव तुम हो तो प्रतिवादी-रूप से बैठे हुए जीवों को देखते हो या नहीं ? यदि देखते हो तो वे 'हैं' या 'नहीं हैं' ? जो स्वयं की ही तरह दूसरे जीवों की सत्यता को जानता हुआ भी 'दूसरा नहीं है' ऐसा कहता है वह स्वात्मतस्कर है । जो स्वयं की तरह दूसरों को सत्यरूप से देखता है उसका यह कहना कि 'मैं ही एकमात्र सत्य हूं, सभी जीव और जड़ मेरे अज्ञान से कल्पित हैं', अनुभवविरुद्ध है । यह जगत् तुम्हारे अज्ञान से परिकल्पित है- इसमें कोई बलवान् प्रमाण नहीं है, जिससे दर्शन भी बाधित हो जाय । सत्य रूप से प्रतीयमान होने वाले गन्धर्वनगरादि का असत्व बिना प्रमाण के नहीं मान लिया जाता, किन्तु बलवान् प्रमाण से उसका बाध होने के कारण माना जाता है । बिना प्रमाण के कल्पित और बाध्य मानने पर तुम भी प्रतिवादी के अज्ञान से कल्पित हो जाओगे । और इस प्रकार अनिश्चय होने से मोक्ष के लिये प्रवृत्ति नहीं होगी ।

---

1. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० २२०

यदि एकजीववादी अन्य प्रतिवादी आदि जीवों को नहीं देखता है, या देखता हुआ भी 'नहीं है' इस रूप से देखता है तो उसका कथन उन्मत्त-प्रलाप होगा। वह न तो वादादि कथा में प्रवेश करेगा और न शास्त्र की रचना या व्याख्या करेगा। यदि ऐसा करे भी तो वह उपेक्षणीय होगा कि वह न लौकिक है और न परीक्षक। वाणी या कथन दूसरों को बोध कराने के लिये होते हैं। यदि दूसरे किसी का अभाव ही है तो बोध कराने के लिये कथन ही नहीं किया जायगा, अन्य किसी का अभाव होने पर भी यदि कोई वाणी का प्रयोग करे तो उन्मत्त ही होगा।

यदि मायावादी कहे कि 'मेरे द्वारा कभी भी कुछ भी कथन नहीं हो रहा है' तो वह स्वक्रिया-विरोधी है और सभी लोगों द्वारा अवगत अर्थ का अपलाप कर रहा है। यदि वह कहे कि 'मेरे द्वारा व्यवहारतः कथन हो रहा है, परमार्थतः नहीं' तो प्रतियोगी का अभाव निश्चित हो जाने पर व्यवहारतः भी कथन करता हुआ प्रेक्षावान् नहीं हो सकता है।

श्रुतियों की आन्तर अनुपपत्ति

जगत् प्रपञ्च का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिये विवर्तवादियों द्वारा जो श्रुतियां प्रस्तुत की गयी हैं, उनका उनके द्वारा गृहीत अर्थ बाह्यत: प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनुपपन्न है यह तो बताया ही जा चुका है। किन्तु जयतीर्थ ने उन श्रुतियों की व्याख्यात्मक आन्तर अनुपपत्ति भी प्रदर्शित की है। यह उनकी विलक्षण मौलिकता है। उक्त अनुपपत्ति का सूक्ष्म प्रदर्शन करते हुए उन्होंने उन श्रुतियों का अविरुद्ध व्याख्यान प्रस्तुत किया है।

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशय: ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थत: ।।
विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदिकेनचित् ।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ।।[1]

उक्त दो श्लोकों में दो बार 'यदि' शब्द का और 'निवर्तेत' इस लिङ् प्रत्ययान्त क्रिया का प्रयोग हुआ है। इनकी व्याख्या जगद्-मिथ्यात्वपरक नहीं की जा सकती। यदि यहां प्रपञ्चमिथ्यात्व का कथन अभीष्ट होता तो 'योऽयं प्रपञ्चो विद्यत इव दृश्यते, स निवर्तिष्यते', अज्ञानेन कल्पितो विकल्पो निवर्तिष्यते'[2] ऐसा कहा जाना चाहिए था। 'यदि' आदि शब्द विगतार्थ और विरुद्ध हैं। इनके प्रयोग से तो यह सूचित होता है कि दोनों वाक्य प्रसंगपरक हैं। जैसे 'यदि पर्वतो निरग्निको भवेत् तदा निर्धूमोऽपि स्यात्' वाक्य प्रसंगपरक है। और प्रसंग का विपर्यय में पर्यवसान होकर 'पर्वत: साग्निक:' यह अर्थ सूचित होता है। प्राप्त श्लोक में भी विपर्यय में पर्यवसान होने से वाक्यसामर्थ्य से प्रपञ्च की 'अनिवृत्ति' आदि ही प्राप्त होती है। और इस प्रकार श्रुति का तात्पर्य मिथ्यात्वपरक व्याख्या का निराकरण करता हुआ सूचित होता है।

---

१. माण्डू० का०

२. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० २२१

`विधेत` यह शब्दरूप उत्पत्ति का ही कथन करता है सत्ता का नहीं। यह `विदोत्पत्तौ` धातु व्याख्यान से प्रसिद्ध है। और `निवर्तेत` शब्द विनाश का ही कथन करता है, बाध का नहीं। `यहां केवल उत्पत्ति अर्थ ही क्यों गृहीत है सत्ता क्यों नहीं?`—यह शङ्का व्यर्थ है। यहां पर प्रप बो यदि विधेत तर्हि निवर्तेत[1] इस वाक्य में `यदि` शब्दादि केवल से, यह प्रसंग (तर्क) है, ऐसा ज्ञात होता है और तर्क व्याप्तिमूलक होता है। `व्याप्याङ्गीकारे अनिष्ट-प्रसंजनं तर्कः` यह उसका लक्षण है। और इस प्रकार `विधेत` इस आपादकतया उक्त अर्थ को `निवर्तेत` इस आपाद्यतया उक्त निवृत्ति के साथ व्याप्ति अवश्य होगी। और उत्पत्ति ही निवृत्ति की व्याप्ति से युक्त होती है, सत्ता नहीं। सत्ता की व्याप्ति युक्त मानने में हमारे मत में व्यभिचार दोष है और विवर्तवादी के मत के विरुद्ध है। सत्ता की निवृत्ति मानने से ब्रह्म की निवृत्ति का प्रसंग होगा। अतः प्रतीयमान अन्वय योग्यता के अभाव में `विद` का अर्थ सत्ता नहीं अपितु उत्पत्ति ही है, उत्पत्ति निवृत्ति से युक्त होती है।

पूर्वपक्षी आरोप करता है कि `विधेत` और `निवर्तेत` का उक्त अर्थ लेने पर भी द्वैतवादी को अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं होती है। उक्त व्याख्यान में भी अन्वययोग्यता नहीं है। तर्क की व्याप्ति की तरह विपर्यय में पर्यवसान अवश्य होगा। जैसे कि प्रपञ्च यदि उत्पन्न होता तो विनष्ट होता। किन्तु विनष्ट नहीं होता, इसलिए उत्पन्न नहीं होता[2], यह अर्थ प्राप्त होता है। और प्रपञ्च का विनाश और उत्पत्ति नहीं होती- ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि पृथिव्यादि प्रपञ्च की उत्पत्ति और विनाश प्रमाण-दृष्ट हैं। अतएव तर्क के अङ्गभूत आपाद्य का अनिष्टत्व उपपन्न नहीं होता है।

---

1. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० २२१

2. प्रपञ्चो यदि उत्पद्येत तर्हि विनश्येत। न च विनश्यति। तस्मान्नोत्पद्यत इति वक्तव्यम्। न्या० सु० पृ० 221

प्रपञ्च शब्द का अर्थ—

पूर्वपक्षी के उक्त आक्षेप के उत्तर में जयतीर्थ ने प्रपञ्च शब्द के स्वाभिमत अर्थ को स्पष्ट किया है। विवर्तवादियों के अनुसार प्रपञ्च का अर्थ जीव-जडात्मक जगत् है। माध्व मत के अनुसार यह प्रपञ्च शब्द जगद्विस्तारवाची नहीं है, अपितु भेद पञ्चक का वाचक है। 'पञ्चानां वर्गः प्रञ्चः। प्रकृष्टः पञ्चः प्रपञ्चः।'[1] यह प्रपञ्च शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। इसकी प्रकृष्टता मोक्षाङ्गज्ञानतया होती है और वह मोक्षाङ्गज्ञानता भेद सम्बन्धी पञ्चक की ही उपपन्न होती है; क्योंकि कहा गया है - 'ऐक्यं तयोर्ज्ञात्वा मुच्यते बध्यतेऽन्यथा। अतः भेद-पञ्चक ही प्रपञ्च है। यह भेद-पञ्चक है -- (१) जीव-ईश्वर भेद, (२) जड-ईश्वर भेद, (३) जीव-जीव का परस्परभेद, (४) जीव-जड भेद और (५) जड-जड का परस्पर भेद[2]। यह भेद पञ्चक रूप प्रपञ्च सत्य और अनादि है। यदि यह सादि होता तो विनष्ट होता, और यदि सत्य न होता तो प्रत्यक्षादि से उपलब्ध न होता। इसलिए, द्वैत नहीं है, यह अज्ञानियों का मत है।

मायामात्रम् का अर्थ—

अद्वैतमत में 'मायामात्रम्' का अर्थ 'मिथ्या' लिया गया है। माध्वमत में इस पद की व्याख्या में इसकी व्याकरणात्मक निष्पत्ति बताते हुए विशिष्ट अर्थ लिया गया है। जयतीर्थ के अनुसार माङ् माने (मानार्थक माङ् धातु) और त्रैङ् पालने (पालनार्थक त्रैङ् धातु) इन दो धातुओं से 'घञ्' (भाव) अर्थ में 'क'[3] प्रत्यय का विधान किया गया है। दो धातुओं

---

१. न्या० सु०, पृ० २२१

२. जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैव जडजीवभिदा तथा॥
मिथश्च जडभेदोऽयं प्रपञ्चो भेदपञ्चकः। (अनुव्याख्यान पृ० १७)

३. आतोऽनुपसर्गे कः (अष्टाध्यायी ३।२।३)

से एक प्रत्यय का प्रयोग `अद्भुत` शब्द के निर्माण में दृष्ट है ; इसमें `अदि` और `भू` इन दो धातुओं में `डुतच्`[1] प्रत्यय किया गया है । `यह जगत् प्रपञ्च या द्वैत मायामात्र है` इसका अर्थ होता है कि `जीवेश्वरप्रज्ञाभ्यां मातं निर्मितम्, ऐश्वर्यप्रज्ञया त्रातं यस्मात् तत: मात्रम्`[2] । अर्थात् यह द्वैत जीव और ईश्वर दोनों की प्रज्ञाओं से निर्मित एवं ईश्वर की प्रज्ञा से रक्षित या पालित है । यहाँ प्रज्ञा शब्द वासना का उपलक्षण है क्योंकि मन प्रज्ञात्मक और प्रज्ञोपादानक है । और वासना मनोरूपा और मन-उपादानक है । इसलिए इन दोनों वासना और प्रज्ञा का एक कारण रूप सम्बन्ध होने से प्रज्ञा को वासना का उपलक्षण माना जा सकता है । माया ईश्वर की शक्ति है । इस विषय में `विष्णो: प्रज्ञप्तिरेका शब्दैरेवाभिधीयते` वाक्य प्रमाण है । यह सम्पूर्ण जीव जड़ात्मक जगत् ईश्वर की इच्छाशक्ति के अधीन है ।

अद्वैतं परमार्थत:—

माध्व मत के अनुसार `अद्वैत` का अर्थ है `उत्तम` । ईश्वर ही एकमात्र उत्तम है, उसकी अपेक्षा अन्य सब मध्यम या अधम है ।

अनादिमायया सुप्तो यदा जीव: प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥[3]

इस श्लोक में अनादि माया परमेश्वर की इच्छा या उसकी प्रज्ञा से जीव समूह का प्रकृत्यादि जड़ से आवृतज्ञानत्व रूप सुप्तत्व और परमेश्वरेच्छा से ही परमेश्वरादितत्व विषयक परोक्षज्ञानरूप प्रबोध कहकर अपरोक्ष ज्ञान भी

---

1. अदिभूभ्यां डुतच् (द्रष्टव्य न्या० सु० पृ० ४९८)
2. न्या० सु०, पृ० ४९८
3. गौडपाद कारिका १ । १६

कहा गया है । इस प्रकार जीव-ईश्वर, जड़-ईश्वर, जीव-जड़ के भेद प्रतिपादित होते हैं । स्वामी की इच्छा से बेड़ी (निगड) आदि से पुरुष के बद्ध या मुक्त होने पर तीनों भेद देखे जाते हैं, स्वामी-निगड, स्वामी-पुरुष, और निगड-पुरुष-भेद । `प्राक् प्रपञ्च: सर्वभावजनाम्` यहां भाव शब्द से उक्त, जीवों का परस्पर भेद कथित है, और उसी से आवरणरूप जड़ों का भी अर्थ से परस्पर भेद उदित होता है । उन पांचों भेदों का अनादित्व भी `अनादिमायया`, `अजमनिद्रम्` इत्यादि विशेषण-सामर्थ्य से प्राप्त होता है ।

यदि जीव और जड का भेद निवृत्त होता तो जीवों के जडत्व की आपत्ति होती और मोक्षशास्त्र की व्यर्थता होती । उक्त रीति से प्रपञ्च शब्दोक्त द्वैत `मायामात्र` है इसलिये सत्य है । अविद्यमान वस्तु ईश्वर की प्रज्ञा का विषय नहीं होती, नहीं तो ईश्वर में भ्रान्तित्व का प्रसंग होगा।

द्वैत शब्द का अर्थ--

यहां द्वैत शब्द का अर्थ इस प्रकार है -- द्वयोर्भावो द्विता । तयोर्वर्गो द्वैतम्[1] । `भेद` के साथ `पञ्च` शब्द का सम्बन्ध प्रकरण से प्राप्त है । और जो परमेश्वर का अद्वैतत्व विशेषण कहा गया है, वह द्वितीय वस्तु के राहित्य के अभिप्राय से नहीं, किन्तु `परमार्थत:` अर्थात् उत्तम वस्तु के अभिप्राय से कहा गया है । यदि यह भेद किसी के द्वारा अज्ञान से कल्पित होता तो चन्द्रमा के भेद की तरह निवृत्त होता, किन्तु निवृत्त नहीं होता, इसलिये यह कल्पित नहीं किन्तु सत्य है ।

---

१. द्रष्टव्य - न्या० सु०, पृ० 222

'वाचारम्भणम्' आदि का अर्थ

परिणामवादी और विवर्तवादी दोनों ने 'प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इत्यादि सूत्र की व्याख्या में 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो' 'वाचारम्भणम् विकारो नामधेयम्' इत्यादि श्रुतियों को प्रस्तुत किया है, और इनका ब्रह्मोपादानपरक व्याख्यान किया है। जयतीर्थ ने पूर्वापर प्रसंग प्रस्तुत करते हुए तथा समालोचनात्मक टिप्पणी करते हुए दोनों मतों के व्याख्यान की अनुपपत्ति बतायी है और इन श्रुतियों का युक्ति-युक्त व्याख्यान प्रस्तुत किया है।

परिणामवादिमत के अनुसार 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्'[1] श्रुति जगत् को ब्रह्म का परिणाम बताती है, इसमें जगत् और ब्रह्म का अनन्यत्व बतलाने के अभिप्राय से ब्रह्म के विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा की गयी है। श्वेतकेतु सबकी ब्रह्मोपादानता को नहीं जानते थे और उपादेय और उपादान में भी भेद मानते थे। अतः उन्हें अन्य का ज्ञान होने पर अन्य का ज्ञान नहीं हो सकता था। अतः उनके द्वारा 'कथं नु भगवः स आदेशो भवति' इस प्रकार पूछे जाने पर जगत् का ब्रह्मोपादानकत्व रूप से उससे अनन्यत्व बतलाते हुए लौकिक प्रतीतिसिद्ध मृदादिकारण से घटादि कार्य का अनन्यत्व प्रदर्शित किया गया है। 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्। वाचारम्भणम् विकारो नामधेयम्, मृत्तिकेत्येव सत्यम्। यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्। वाचारम्भणम् विकारो नामधेयम् लोहमणिरित्येव सत्यम्।'[2] इन दृष्टान्तों में मृत्पिण्डादि के परिणाम घटादि का उनसे अनन्य रूप से ज्ञान हो जाने पर मृदादिमय सबका ज्ञान होना बतलाया गया है। अनन्यत्व होने पर भी कार्यत्व व्यवहारार्थ है, जो 'वाचारम्भणम्' से सूचित होता है। यहाँ 'वाक्' का ग्रहण समस्त इन्द्रियों के व्यवहार का उपलक्षण है।

---

1. छान्दोग्यो० ६।१।३
2. वही ६।१।४,५

विवर्तवादि मत —

विवर्तवाद के अनुसार 'एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा करके दृष्टान्त की आकाङ्क्षा होने पर 'यथा सोम्य' इत्यादि का कथन किया गया है। एक मृत्पिण्ड के परमार्थतः मृदात्मना विज्ञात हो जाने पर सम्पूर्ण मृण्मय पदार्थ घटादि मृदात्मकत्व रूप अविशेष होने से ज्ञात हो जाते हैं। केवल वाणी से 'अस्ति' यह कहकर विकार घट, शराव आदि का आरम्भ किया जाता है, वस्तुतः 'विकार' कुछ नहीं है, यह विकार नामधेय मात्र और अनृत है। 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' यह ब्रह्म का दृष्टान्त है। अर्थात् जिस प्रकार मृत्तिका ही एकमात्र परमार्थतः सत् है घट शरावादि नामधेय मात्र है, मृत्तिका से भिन्न उनकी सत्ता नहीं है, अतः मृत्तिका का विज्ञान हो जाने पर घटादि सबका विज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ सत् है, नाना रूप जगत् नामधेय मात्र है, ब्रह्म से भिन्न उसकी कोई सत्ता नहीं है, अतः ब्रह्म का विज्ञान हो जाने पर समस्त जगत् का विज्ञान हो जाता है।

खण्डन —

उक्त दोनों व्याख्याएं अनुपयुक्त हैं। एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा और मृत्पिण्डादि दृष्टान्त विकार या विवर्त के अभिप्राय से है, यह श्रुति वाक्य से नहीं प्रतीत होता किन्तु 'वाचारम्भणम्' इस उपपादक वाक्य के बल से गृहीत होता है, अतः 'वाचारम्भणम्' शब्द का अर्थ पहले स्पष्ट कर लेना चाहिए।

'वाचारम्भणम्' का अर्थ —

वाचारम्भणम् शब्द का अर्थ है 'वाचारम्भम्'। 'आरम्भण' शब्द ल्युट् प्रत्ययान्त है, और ल्युट् भाव अर्थ में और करण एवं अधिकरण में विहित है, कर्म में नहीं। 'कृत्यल्युटो बहुलम्'[१] से भी कर्मणि ल्युट् नहीं माना जा सकता है।

---

१. अष्टाध्यायी (३।३।११६)

प्रबल नियामक के बिना `बहुलग्रहण का कर्म में व्याख्यान नहीं किया जा सकता, और आरम्भ का आरम्भण मानने में स्ववचन विरोध है क्योंकि आरम्भण का आरब्ध अर्थ लिया गया है। इसलिये `आरम्भणम्' का आरब्ध अर्थ नहीं लिया जा सकता है।

यह पूर्वपक्षी का कथन उपयुक्त नहीं है। आरम्भण शब्द का भाव में ही अङ्गीकार किया गया है। इस प्रकार से वाचा वागिन्द्रियेण आरम्भणमुत्पादनं यस्येति वाचारम्भणम्[1]। टापं चापि हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा[2] इस वचन से यहाँ तृतीया का अलुक् है। `वाचया आरम्भणम् यस्येति' यह बहुव्रीहि है।

यहाँ पर वाचारम्भण शब्द से विकारत्व अर्थ प्राप्त होता है अत: विकार कथन से पुनरुक्त दोष की शङ्का हो सकती है। इसलिये जयतीर्थ ने इसका औचित्य स्पष्ट किया है। वाचारम्भण शब्द से तो साङ्केतिक नाम ही वाच्य है, अवयवार्थ कथन तो वैशद्यार्थ ही है। जैसे - `चष्टे अनेनेति चक्षु:' इस निर्वचन से दर्शनकरणत्व प्राप्त होने पर भी `चक्षुषा पश्यति' वाक्य में पुनरुक्तता नहीं मानी जाती है; वाक्य-प्रयोग की दशा में चक्षु का अवयवार्थ अविवक्षित होता है। उसी प्रकार वाचारम्भण शब्द भी साङ्केतिक पर्याय है। `विकार' शब्द का अर्थ है विक्रियते इति विकार:। यहाँ कर्मणि घञ् है। और विकृतत्वोपपादक अन्य अर्थ है, `विविध: कार: प्रकारो विकार:'।

नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम् का अर्थ—

सत्य का अर्थ है `नित्य'। मृत्तिका इत्यादि जो वैदिक नामधेय हैं, वही नित्य हैं, और जो वाचारम्भण अर्थात् साङ्केतिक नामधेय हैं वे विकार अर्थात् उत्पत्तिमान् हैं अत: वे पुरुष की इच्छानुसार अनेकविध होने से अनित्य हैं[3]।

---

१. तृतीया अलुक् (न्या० सु० पृ० २२३) २. श्लोकवार्तिक

३. न्या० सु०, पृ० २२४

यहां `वाचारम्भणम्` नपुंसक लिंग और `विकार:` शब्द पुलिंग में प्रयुक्त हैं, किन्तु इनमें लिंग-वैषम्य दोष की शङ्का नहीं की जा सकती है। नामधेय और विकार शब्दों का लिंग नियत है, ये क्रमश: नपुंसक लिंग और पुलिंग में ही प्रयुक्त होते हैं। `वाचारम्भण` शब्द `नामधेय` का विशेषण है। विशेषण सदा विशेष्य के अधीन होता है, अत: `वाचारम्भणम्` में नपुंसक लिंग का प्रयोग उचित ही है।

यहां पूर्वपक्षी शंका करते हैं कि सांकेतिक नामों के उत्पत्ति विनाशवत्व और वैदिक नामों के अनादिनित्यत्व का क्या प्रयोजन है? जिस प्रकार हमारे मत में प्रकृत `ब्रह्म के विज्ञान से सर्वविज्ञान` होने में दृष्टान्त में उपयोग होता है वैसा उक्त द्वैतमत के अनुसार नहीं है। अत: असंगत होने से यह श्रुत्यर्थ नहीं हो सकता है।

जयतीर्थ का कथन है कि यद्यपि उक्त अर्थ पूर्वपक्ष की तरह दृष्टान्त का उपपादक नहीं है तथापि ब्रह्मविज्ञान से सर्वविज्ञान में अन्य प्रकार से दृष्टान्त के रूप में उपयोग किया जायेगा। कृतक और अनित्य होने से साङ्केतिक नाम परापेक्ष अतएव अप्रधान है और संस्कृत नाम अनादि नित्य होने परानपेक्ष अतएव प्रधान है। जैसे प्रधान होने से संस्कृत नाम के ज्ञान मात्र से साङ्केतिक नाम ज्ञात हो जाता है अर्थात् उसके ज्ञान से होने वाला विद्वद्व्यवहार गोचरत्वादि फल होता है, वैसे ही अनित्यत्वादिरूप से अप्रधान तथा देवता कर्मादि से युक्त सम्पूर्ण जगत् के ज्ञान से जो फल होता है वह समस्त फल नित्यत्वादिरूप से प्रधान परमात्मा के ज्ञान से प्राप्त हो जाता है अर्थात् परमात्मज्ञान के फल में अन्तर्भूत होता है।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि उक्त प्रकार से एकविज्ञान से सर्वविज्ञान अमुख्य हो जायेगा-तो यह उचित ही है। पूर्वपक्षी भी इसे मुख्य रूप से व्याख्यात नहीं कर सकता है। यदि पूर्वपक्षी को अभिमत अर्थ मुख्य माना जाय तो `मिट्टी` को देख लेने वाले पुरुष को `घट`, शराव आदि संस्थान विशेष की जिज्ञासा

का अभाव प्रसक्त होगा क्योंकि मिट्टी के ज्ञान हो जाने से सम्पूर्ण मृण्मय विकारों का ज्ञान हो जायगा ।

`सत्य ` शब्द का निर्वचन —

सत्य शब्द का अर्थ `नित्य` लेने का औचित्य बताते हुए जयतीर्थ का कथन है कि इसका यह अर्थ इसके निर्वचन से लिया गया है । वैयाकरण `सत्य` का निर्वचन `सदा तनं सत्यम्` करते हैं । इससे इसका अर्थ `नित्य` होता है । `सदा` शब्द से `तत्र भव:`[1] अर्थ में `अव्ययात्त्यप्`[2] से `त्यप्` प्रत्यय करने `सर्वस्यसोन्यतरस्याम्`[3] से सदा शब्द का `स` हो जाता है, इस प्रकार सत्य शब्द निष्पन्न होता है । अथवा सदा शब्द से `भव` अर्थ में `तद्धिता:`[4] सूत्र से `ड्य` प्रत्यय और `सदा` के आकार का लोप एवं दकार को तकार होकर `सत्य` शब्द निष्पन्न होता है ।

श्रुति: भी सत्य शब्द का नित्य अर्थ में प्रयोग प्राप्त होता है । `यदेनं जराप्नोति प्रध्वंसते किं ततोऽस्यातिशिष्यत इति स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यते न वधेनास्य हन्यते एतत् सत्यं ब्रह्म पुरम्`[5] इस वाक्य में `सत्य` शब्द नित्य का ही वाचक है । इसका अर्थ है - देह की जीर्णता या वध से `आत्मा` जीर्ण या हत नहीं होता है ।

विवर्तवादियों की व्याख्या में दोष —

विवर्तवादिमत में `वाचारम्भणम्` का अर्थ `मिथ्या` लिया गया है । किसी भी शब्द का अर्थ या तो रूढि से लिया जाता है या योग से ।

---

१. अष्टाध्यायी ४।३।५३ २- अष्टाध्यायी ४।२।१०४

३. वही ५।३।६ ४- वही ४।१।७६

५. छान्दो० ८।१५

`वाचारम्भणम्` का `मिथ्या` अर्थ भी उक्त दो आधारों पर लिया जा सकता है। वाचारम्भणम् शब्द का रूढितया `मिथ्या` अर्थ होता है, इसका कोई ज्ञापक प्रमाण नहीं है, इसलिये इसका रूढितया `मिथ्या` अर्थ नहीं ले सकते हैं। ज्ञापक प्रमाण के अभाव में `मिथ्या` अर्थ लेना अश्रुत-कल्पना होगी। यदि `आरभ्यते इति आरम्भणम्` इस प्रकार योग से उक्त अर्थ ग्रहण करें तो भी अश्रुत-कल्पना होगी, क्योंकि `आरम्भणम्` के कर्म होने पर `कर्तृकर्मणोः कृति`[1] इस पाणिनीय सूत्र से `कृत्` के योग में कर्ता में षष्ठी विभक्ति प्राप्त होती है, किन्तु यहां `वाचा` में तृतीया है। इसके अतिरिक्त `ल्युट्` का कर्म में विधान नहीं है, अतः उक्त व्युत्पत्ति में कर्म में ल्युट् का अङ्गीकार भी अश्रुत-कल्पना है।

यदि वाचारम्भत्व अर्थात् वाणी से कथन होने मात्र से किसी को मिथ्या मानें तो ब्रह्म के भी मिथ्यात्व का प्रसङ्ग होगा, क्योंकि वाणी से ब्रह्म का कथन होता है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि - `विकार का आरम्भ केवल वाणी से होता है वस्तुतः रूप से कोई विकार नहीं है, और इस प्रकार `मिथ्यात्व` अर्थ प्राप्त होता है` — तो ठीक नहीं है। `वाचारम्भणम्` श्रुति में `केवल` शब्द का प्रक्षेप करने में अश्रुत-कल्पना होगी।

`नामधेयम्` का अर्थ विवर्तवादी `नामधेयमात्रं ह्येतदनृतम्` अर्थ करते हैं, जिसका अर्थ है यह जगत्-प्रपञ्च नामधेयमात्र है, यह अनृत है। परन्तु उक्त अर्थ तो वाचारम्भणम् की व्याख्या से गतार्थ हो जाता है, नामधेयम् का भी यही अर्थ लेने पर पुनरुक्ति होगी। यदि `विकार और नामधेयम् दोनों ही वाचारम्भण है` — ऐसी व्याख्या स्वीकृत करें तो भी `नामधेयम्` पद पुनरुक्त होगा क्योंकि विकार शब्द से अभिधान और अभिधेय, दोनों का ग्रहण सम्भव है।

विवर्तवादियों को अभिमत `मृत्तिकेत्येव सत्यम्` अंश की व्याख्या भी अनुपयुक्त है। उनके अनुसार यहां मृत्तिका का सत्यत्व ही विवक्षित है। किन्तु उक्त अर्थ को व्यक्त करने के लिए `मृत्तिकेत्येव सत्यम्` के स्थान पर

---

1 अष्टाध्यायी 2।3।65

`मृत्तिकेत्येव सत्यम्` कथन होना चाहिए । यहां इति शब्द निरर्थक ही है । `इति` शब्द का प्रयोग कहीं पर पदार्थों का विपर्यास बताने में, कहीं हेतु में, कहीं एवम् के अर्थ में, कहीं `आदि` के अर्थ में, कहीं `प्रकार` अर्थ में और कहीं परिसमाप्ति में किया जाता है । विवर्तवाद की उक्त व्याख्या के प्रसंग में इनमें से कोई भी अर्थ प्राप्त नहीं होता, जिससे `इति` के प्रयोग की सार्थकता सिद्ध होती हो । द्वैत मत की व्याख्या में `इति` का प्रयोग सार्थक सिद्ध होता है । शब्द से अर्थ का बोध होता है। `मृत्तिका` शब्द से मृत्तिका अर्थ (मिट्टी) प्राप्त होता है, किन्तु यहां शब्दस्वरूप का ही गृहण करना है, इसलिये मृत्तिका अर्थ का परिहार कर शब्दस्वरूप के गृहण के लिये `इति` का प्रयोग सार्थक है ।

परिणामवादियों की व्याख्या में दोष —

परिणामवादियों ने `कृत्` के योग में तृतीया विभक्ति अङ्गीकृत करते हुए, `आरम्भणम्` पद में `कर्मणि ल्युट्` व्याख्यात किया है; अत: पूर्वोक्त प्रकार से अद्भुत कल्पना है । `विकार` शब्द से नामधेय ` का गृहण संभव होने से पुनरुक्ति और इति शब्द की निरर्थकता भी स्पष्ट है । परिणाम-वादी का यह कथन कि --`इति शब्द प्रकार वचन में प्रयुक्त है `— ठीक नहीं है । उनके अनुसार यह कथन कार्य और कारण के भेद की शङ्का का निरास करने के लिये किया गया है। जिस सत्ता से मृत्तिका सत् है उसी सत्ता से सभी मृण्मय-विकार भी सत्य हैं - ऐसा परिणामवादी का कथन है । इस व्याख्या में स्वरूपसत्ता विवक्षित है या सामान्य सत्ता ? इसे स्वरूपसत्ता मानने में साध्याविशिष्टता है । जो कार्य और कारण में भेद मानता है, वह यह कैसे अङ्गीकृत कर सकता है कि कारण-स्वरूप से ही कार्यस्वरूप सत् है । और यदि इसे सामान्यसत्ता माना जाय तो वह अनैकान्तिक होगी । सामान्य सत्ता से महिष और अश्व दोनों ही सत् हैं, किन्तु महिष की सत्ता से सत् अश्व, महिष से भिन्न नहीं हैं— ऐसा नहीं कहा जा सकता है । यदि कहा जाय कि `मृण्मय विकार मृत्तिका की सत्ता के अधीन सत्ता वाला है, यह विवक्षित है— तो भी अनैकान्तिकता है, क्योंकि उक्त प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि वह (मृण्मय विकार) कुलाल की सत्ता के अधीन सत्ता

वाला है । और जो जिसके अधीन है, वह उससे अभिन्न है । यह कथन विरुद्ध है । इस प्रकार `इति` शब्द इनकी व्याख्या में भी विवक्षित के साधन में उपयोगी न होने से निरर्थक सिद्ध होता है ।

`यथा सोम्य ` इत्यादि की व्याख्या[१]

विवर्तवाद और परिणामवाद की व्याख्या में दोष—

`यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्` इत्यादि श्रुति-वाक्य को परिणामवादी और विवर्तवादी एक विज्ञान से सर्वविज्ञान के दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं । उन दोनों की व्याख्या अनुपयुक्त है । यदि एक विज्ञान से सर्वविज्ञान विवक्षित होता तो `मृदा विज्ञातया मृण्मयं विज्ञातं स्यात् ` लोहेन विज्ञातेन लोहमयं विज्ञातं स्यात् । कार्ष्णायसा विज्ञातेन कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात् ।`— इतने से अर्थ पूर्ण हो जाता है,`यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन.. `इत्यादि तीनों वाक्यों में प्रयुक्त `एक` शब्द, पिण्ड, मणि, नखनिकृन्तन और `सर्व ` शब्द विगतार्थ होंगे, और सभी मृण्मयादि विकार एक ही मृत्पिण्डादि के विकार नहीं हैं, अतः विरुद्धार्थता भी होगी ।

विवर्तवादियों को अभिमत आरोपितत्व तो एक भी मृण्मय का एक मृत्पिण्ड में नहीं है, सम्पूर्ण के आरोपितत्व का तो प्रश्न ही नहीं उठता है ।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि `आरोपितत्व युक्ति से समर्थित होता है `, तो यह विवाद का विषय हो जायगा अतः दृष्टान्त नहीं बन सकेगा क्योंकि दृष्टान्त वही होता है जिस अर्थ में लौकिकों (सामान्य लोगों) और

---

१. न्या० सु०, पृ० २२६

परीक्षकों (विशिष्ट विद्वानों) का बुद्धि साम्य हो, ऐसा न्यायविदों का मत है । प्रस्तुत प्रसंग में घटादि अबाधित प्रत्यक्षादि-सिद्ध है, अत: यहां युक्ति आभासभूत है । यदि आरोपितत्व मान भी लिया जाय तो भी एक ही में सबका आरोप नहीं हो सकता है। `एक ` शब्द से परमकारण का एकत्व, `पिण्डेन ` से कार्याभिमुख्य और `सर्व ` से कार्य का नानात्व विवक्षित है, अत: इन पदों का वैयर्थ्य नहीं होगा`— यह कहना ठीक नहीं है । दार्ष्टान्तिक वाक्य में उक्त विवक्षा न होने से यहां वैयर्थ्य का परिहार नहीं हो सकता है । इसके अतिरिक्त प्रथम दो दृष्टान्तों में कार्यकारणभावमात्र है, किन्तु `एक` आदि पद व्यर्थ ही हैं । `यथा सौम्यैकेन नखनिकृन्तनेन` आदि दृष्टान्त में तो अवयवी कार्ष्णायस अन्त में रखा गया है । इसमें नखनिकृन्तन का अन्य कार्ष्णायस के प्रति कारणत्व ही असम्भव है, यहां पर एक से सबकी प्रतीति बन ही नहीं सकती ।

इनकी उपयुक्त व्याख्या—

इस प्रकार परिणामवाद और विवर्तवाद की व्याख्या दोष-युक्त है । उक्त तीनों दृष्टान्त सादृश्यविषयक है । सादृश्येन ही एक विज्ञान से सर्वविज्ञान विवक्षित है और ये दृष्टान्त प्राधान्य की प्रतिपत्ति के लिये हैं, उपादानत्व की प्रतिपत्ति के लिये नहीं । उपादान प्रेक्षापूर्वक कार्य नहीं करता है और नहीं अधिष्ठान प्रेक्षापूर्वक अध्यस्त कार्य करता है ।

अत: किसी भी प्रकार से विवर्तमत उपपन्न नहीं हो सकता है । जन्मादि सूत्र में जगत् के प्रति ब्रह्म का वैसा ही कारणत्व विवक्षित है जैसा पुत्र के जन्म में पिता का निमित्तत्व होता है ।

समीक्षा

इस प्रकार न्यायसुधा में जगत् की यथार्थता का प्रबल समर्थन किया है। इस समर्थन में साक्षिप्रत्यक्ष, आगम आदि प्रमाणों को प्रस्तुत किया गया है। श्रुतियों की आन्तर अनुपपत्ति का बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया गया है,जो तर्कसंगत है। जयतीर्थ की सयुक्तिक व्याख्या सर्वथा श्रुतियों के अनुकूल है।

वस्तुत: स्वरूपत: जगत् के मिथ्यात्व की अनुभूति असंभव है। जो जीवनमुक्त महापुरुष हैं उनका भी जगत् में पूर्ववत् सामान्य व्यवहार देखा जाता है। यथार्थता होने पर ही सभी व्यवहार संभव है। अयथार्थ शुक्ति-रजतादि में प्रवृत्ति तो अवश्य होती है,किन्तु समीप जाने पर उसकी असत्यता ज्ञात हो जाती है, और उसका रजतरूप से व्यवहार नहीं होता है। जगत् के स्वरूप का तो सर्वथा सत्यत्व ही ज्ञात होता है अतएव उसमें प्रवृत्ति एवं व्यवहार उपपन्न होते हैं। जगत् को यथार्थ स्वीकृत करने पर ही उसमें हेयोपादेय-बुद्धि हो सकती है एवं उसके दु:ख-रूप होने से उससे मुक्ति की इच्छा हो सकती है। अत: जगत् को यथार्थ स्वीकृत करना युक्तियुक्त एवं स्वाभाविक है।

-0-

षष्ठ अध्याय

-0-

पोदा-शायन-विचार

षष्ठ अध्याय

-0-

मोक्ष-साधन-विचार

भगवत्-प्रसाद मोक्ष साधन है—

मोक्ष मानव जीवन का परमपुरुषार्थ है, ऐसा सभी दार्शनिक मतों में एक स्वर से स्वीकृत किया गया है। उस परमलक्ष्य की प्राप्ति के साधन में भिन्न दर्शनों में मतभेद है। पूर्वमीमांसा में जहां कर्म को ही मोक्ष का साधन बतायागया है, वहीं अद्वैत मत में ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान को ही परम-साधन माना गया है। नैयायिकों ने प्रमाणादि षोडश पदार्थों के ज्ञान को ही मोक्षसाधन माना है, तो बौद्ध मत शून्य ज्ञान को ही मोक्ष का साधन स्वीकृत करता है। मध्वाचार्य को अभिमत मोक्षसाधन इन आपातरमणीय विचारों से भिन्न अत्यन्त सरल एवं सुग्राह्य है। माध्व मत में सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, निखिलगुणपूर्ण ईश्वर की प्रसन्नता ही मोक्ष का साधन है। मध्व के इस मत का प्रबल पोषण जयतीर्थ ने न्यायसुधा में किया है।

भगवत्-प्रसाद के साधन—

न्यायसुधा के अनुसार बन्ध और मोक्ष यथार्थ हैं। यथार्थ बन्ध से मुक्ति प्रभु या स्वामी की प्रसन्नता से ही सम्भव है, जिस प्रकार निगड आदि से बद्ध पुरुष को मुक्ति-समर्थ राजादि की कृपा या प्रसन्नता से ही होती है। इसी प्रकार संसार बन्धन से मोक्ष सर्वसमर्थ ईश्वर के प्रसाद से ही हो सकता है। यह ईश्वर-प्रसाद भी सर्वसुलभ नहीं, अपितु साध्य है। विषय-वैराग्य, भगवद्भक्ति, भगवदुपासना और भगवत्-साक्षात्कार ये चार भगवत्-प्रसाद के साधन हैं।

विषयवैराग्यादि का पौर्वापर्य—

विषयवैराग्यादि चारों ही समानरूप से भगवत्-प्रसाद के महत्वपूर्ण साधन हैं; इन चारों के बिना भगवत्-प्रसाद प्राप्त नहीं हो सकता है।

इसके अतिरिक्त इन चारों का क्रम निश्चित है। वैराग्यादि चारों में सर्वप्रथम वैराग्य ही साध्य है और वैराग्य भक्ति के प्रति साधन है। विषयों के प्रति वैराग्य हुए बिना भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। हेय में राग होने पर उपादेय में प्रेम की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। यदि वैराग्य के बिना भक्ति होती भी है तो वह दृढ़ नहीं होती। दृढ़ भक्ति ही भगवत्-प्रसाद का साधन होती है।

भगवत्-प्रसाद का तीसरा महत्त्वपूर्ण साधन है भगवान् की उपासना। वैराग्य और भक्ति के दृढ़ होने पर ही उपासना साध्य होती है। आदर और नैरन्तर्य के साथ अनुचिन्तन ही उपासना है। विषयों के प्रति राग-युक्त व्यक्ति भक्ति से रहित होगा। तथा भक्ति-रहित व्यक्ति के लिए आदर और नैरन्तर्य के साथ अनुचिन्तन संभव नहीं है[1]।

यह उपासना भगवत्-साक्षात्कार का साधन होती है। अति दीर्घकाल की उपासना से प्रसन्न हुए भगवान् भक्त उपासक को अपना दर्शन देते हैं।

अथातो ब्रह्म जिज्ञासादि सूत्रों की संगति

यह ब्रह्मसूत्र मोक्षशास्त्र है। मोक्ष ही इसका परमप्रयोजन है। इसलिये सभी सूत्रों का भी परम प्रयोजन मोक्ष ही है। अतः सभी सूत्रों की संगति भी मोक्षपरक ही होनी चाहिए। मोक्ष भगवत्-प्रसाद से प्राप्य है, यह ऊपर बताया जा चुका है। भगवत्-प्रसाद के साधनभूत वैराग्यादि भगवान् का स्वरूप जाने बिना नहीं हो सकते हैं। इसलिये मोक्ष-प्राप्ति के लिये ईश्वर के स्वरूप की जिज्ञासा उपयुक्त ही है। अतः सर्वप्रथम ब्रह्मसूत्र में `अथातो ब्रह्मजिज्ञासा` सूत्र ही अवतरित किया गया है।

अथातः आदि का अर्थ—

`अथातो ब्रह्म जिज्ञासा` इस प्रथम सूत्र में `अथ` शब्द

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० ५२५

आनन्तर्य अर्थ का बोधक है[1]। यहां आनन्तर्य उसी का हो सकता है जिसके बिना ब्रह्म जिज्ञासा नहीं हो सकती और जिसके होने पर अवश्य होती है। वेदार्थज्ञानादि से ही ब्रह्मजिज्ञासा सम्भव है, अतः यहां उसी (वेदार्थज्ञानादि) का ही आनन्तर्य गृहीत होता है। विचार का अपर पर्याय मनन ही जिज्ञासा है। वह मनन, श्रवण के बिना सम्भव नहीं होता है। अतः जितना अर्थसमूह शास्त्र में विचार्य है, उतने के श्रवण से जन्य ज्ञान होने पर मनन हो सकता है। उस शास्त्रार्थ-श्रवण के होने पर जन्मान्तर में सत्कर्म का अनुष्ठान कर लेने वाले, सात्त्विक-प्रकृति वाले व्यक्ति को वैराग्यादि अवश्य ही प्राप्त होते हैं।

अद्वैतमत में नित्यानित्य वस्तुविवेक, शमदमादि साधनसंपत्[2] आदि साधन-चतुष्टय को ब्रह्मजिज्ञासा का पूर्ववृत्त माना गया है। ये सब उपर्युक्त विषय वैराग्यादि में अन्तर्भूत हो जाते हैं। उपमभक्तों में मुमुक्षुता नहीं होती ऐसा तो आचार्य ने कहा नहीं, अतः मुमुक्षुत्व भक्तों में हो सकता है। यहां पर ब्रह्मजिज्ञासा से विषयवैराग्य साध्य है और वैराग्य से जिज्ञासा साध्य है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष प्रतीत होता है, किन्तु इस दोष का परिहार इस प्रकार किया जा सकता है कि सात्त्विक प्रकृति वाले व्यक्ति को सत्संगादि से अल्प वैराग्य प्राप्त हो जाता है। शास्त्रार्थ के श्रवण से वैराग्य की अभिवृद्धि होती है तथा मनन-आदि से पुनः उसकी अभिवृद्धि होती है।

'अतः' शब्द से जिज्ञासा का मोक्ष-प्रयोजनत्व कथित है। क्योंकि ब्रह्म-जिज्ञासा होने पर ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जाता है और ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, अतः ब्रह्म-जिज्ञासा करनी चाहिए।

'अतः' शब्द के द्वारा प्रयोजन कथित होने पर भी 'ईश्वर

----

१. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० ५२५

२. नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थभोगविराग: शमदमादिसाधन-संपत्, मुमुक्षुत्वं च (ब्रह्मसू० शाङ्करभाष्य १।१।१)।

मोक्ष देने वाला है, इस विषय में प्रमाण न होने से, जिज्ञासा क्यों करनी चाहिए ? या प्रयोजन के अभाव में नहीं करनी चाहिए, ऐसा संशय हो सकता है । इसके परिहार के लिए 'जन्माद्यस्ययत:' सूत्र कथित है । इसमें ब्रह्म को जन्मादि का कारण बताकर उसके मोक्षप्रदत्व में प्रमाण बताया गया है । इस सूत्र के अर्थ में ईश्वर का मोक्षदातृत्व ही प्रधान है, सृष्ट्यादि का कर्तृत्व तो हेतुत्वेन कथित है[1] । क्योंकि वह ब्रह्म मोक्ष का दाता है, अत: मुमुक्षुओं को उसकी जिज्ञासा करनी ही चाहिए ।

'जिज्ञासा मोक्ष का साधन है, इस विषय में प्रमाण न होने से भगवान् के मोक्षसाधनत्व का समर्थन असंगत है'— ऐसा कहना ठीक नहीं है । जिज्ञासा साक्षात् मोक्ष के साधन रूप से अभिमत नहीं है, अपितु सुप्रसन्न भगवान् ही मोक्षद है । और भगवान् उत्कृष्ट रूप से ज्ञात होने पर ही सुप्रसन्न होते हैं, तथा उनके उत्कर्ष का ज्ञान जिज्ञासा होने पर ही होता है । इस परम्परा से जिज्ञासा को मोक्ष का साधन मानना सर्वथा उपयुक्त है । भगवान् का मोक्षदातृत्व श्रुत्यादि प्रमाणों से समर्थित है । और सुप्रसन्न भगवान् ही मोक्ष देते हैं, उत्कर्षज्ञान से ही वे प्रसन्न होते हैं, उत्कृष्ट जिज्ञासा से ही उत्कर्ष ज्ञान होता है, इत्यादि लोकत: ही सिद्ध है । अत: भगवान् की जिज्ञासा को मोक्ष का हेतु कहा गया है ।

भगवान् का मोक्षदातृत्व शास्त्रैक ज्ञेय है—

भगवान् ही मोक्षादि देने वाले हैं, यह विषय केवल शास्त्र-प्रमाण से ही बोध्य है, यह बात 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र में स्पष्ट की गयी है । मोक्षादि देने वाला ईश्वर शास्त्र मात्र का विषय है, वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञेय नहीं है । यदि ईश्वर प्रत्यक्ष होता तो सभी पुरुष मुक्त हो जाते ।

---

1. किं चात्र मोक्षदातृत्वं प्रधानम् । सृष्ट्यादिकर्तृत्वं तु तत्र हेतुत्वेनोक्तम्
   (न्या० सु०, पृ० ५२६)

क्योंकि मोक्ष में दुःख की हानि और सुख की प्राप्ति होती है । दुःख की हानि की इच्छा सबको होती है, कोई भी दुःखी दुःख की हानि न चाहता हो, ऐसा सम्भव नहीं है । और भगवत् साक्षात्कार ही मोक्ष का साधन है । भगवान् के प्रत्यक्ष होने पर वह सर्वसुलभ होता । दारिद्र्य दुःख की हानि के इच्छुक व्यक्ति उदार राजादि के पास जाकर उस दुःख से मुक्ति प्राप्त करते देखे जाते हैं[1] ।

मोक्षदाता ईश्वर के विषय में अनुमान प्रमाण भी नहीं है । इसके विपरीत अनुमान से संसार में पुरुषत्वादि की सिद्धि होती है क्योंकि हम पुरुषों को अमुक्त रूप में देखते हैं । अतः मोक्षद पुरुष केवल शास्त्रगम्य है ।

मोक्ष देने वाला विष्णु के अतिरिक्त अन्य नहीं है--

मोक्षदरूप से शास्त्रगम्य विष्णु के अतिरिक्त और कोई नहीं है । मोक्षद को स्वतन्त्र ही होना चाहिए और स्वातन्त्र्य से भगवान् का ही समन्वय है अन्य किसी का नहीं । परतन्त्र रहने वाला कोई मोक्षद नहीं हो सकता है । परतन्त्र के मोक्षदातृत्व में दो विकल्प हो सकते हैं --(१) वह किसी अन्य स्वतन्त्र का आश्रय लिये बिना ही मोक्ष देता है अथवा (२) किसी अन्य स्वतन्त्र का आश्रय लेकर ।

प्रथम विकल्प स्वीकृत करने पर यदि वह बिना किसी की अपेक्षा के अपने भक्त को मोक्ष देने में समर्थ है तो स्वयं को भी मुक्त कर लेगा और इस प्रकार वह परतन्त्र नहीं होगा/तथा दूसरे विकल्प के अनुसार यदि माना जाय कि वह ईश्वर का आश्रय लेकर मोक्ष देता है तो यह भी हो सकता है कि ईश्वर उस परतन्त्र मोक्षद की प्रार्थना मात्र पर किसी को मोक्ष न दे । और इस प्रकार सर्वथा स्वतन्त्र का ही मोक्षदत्व उपपन्न होता है ।

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु०,पृ० ५२८

शास्त्र-ज्ञान की आवश्यकता –

इस प्रकार मोक्षद विष्णु के शास्त्रैकबोध्य होने से उसके स्वरूप ज्ञान के लिये वेदादि शास्त्रों का अर्थ जानना चाहिए । सम्पूर्ण वेदों के अर्थ का ज्ञान भी मनुष्य के लिए असम्भव है क्योंकि मनुष्यों की आयु अल्प होती है । इस आयु में प्रज्ञादिमान् पुरुष को अपनी शाखा के वेद का ज्ञान हो हो सकता है । वेद अनन्त हैं[1]। सम्पूर्ण वेदों का ज्ञान मनुष्य को असम्भव होने से उनका विष्णु में समन्वय ज्ञान भी नहीं हो सकता है, क्योंकि जो जिस वाक्य को नहीं जानता वह उसके समन्वय को भी नहीं जान सकता है । तथापि मनुष्यों को अपनी-अपनी शाखा के अतिरिक्त भी यथाशक्ति अधिकाधिक वेद का अध्ययन करना चाहिए । क्योंकि श्रुति में कहा गया है –

"सर्वैश्च वेदै: परमो हि देवो जिज्ञास्यो ऽसौ नाल्पवेदै: प्रसिध्येत् ।"

स्मृति में भी द्विज के लिये सम्पूर्ण वेद ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न की प्रेरणा दी गयी है[2]।

न्यायसुधा में मोक्ष के साधन अत्यन्त स्वाभाविक हैं । इनमें वेदार्थ ज्ञान और उसके मनन को सर्वप्रथम स्वीकृत करते हुए आचार्य ने शौचाचार के महत्व को भी स्वीकृत किया है । शौचाचार से अन्त:करण के मल दूर होते हैं । निर्मल अन्त:करण से ही ज्ञान की सरलतया प्राप्ति और उसी में भगवद्भक्ति का उदय सम्भव है । शौचाचार का महत्व सर्वमान्य है । अद्वैत वेदान्त में भी वेद और वेदाङ्गों का अध्ययन एवं नित्यनैमित्तिकादि कर्मों का अनुष्ठान अधिकारी की अपरिहार्य योग्यता के रूप में स्वीकृत किये गये हैं[3]।

---

१. अनन्ता वै वेदा: (उद्धृत न्या० ५२८)

२. वेद: कृत्स्नोऽधिगन्तव्य: सरहस्यो द्विजन्मना (उद्धृत न्या० ५३४ ।६)

३. अधिकारी तु विधिवदधीत वेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे.... नित्यनैमित्तिक प्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गत-निखिल कल्मषतया नितान्त निर्मलस्वान्त: (वेदान्तसार पृष्ठ ५)

ज्ञान की प्राप्ति के लिये जयतीर्थ ने सत्-शास्त्रों के श्रवण के अनन्तर उनके मनन और निदिध्यासन को भी अत्यन्त महत्वपूर्ण और अनिवार्य बताया है। ये भी मोक्षप्राप्ति के सर्वमान्य साधन हैं। शास्त्रों के श्रवण के लिये गुरु और शिष्य की योग्यता और पात्रता का विचार भी महत्वपूर्ण है। उत्तम गुरु से ही वेदादि का श्रवण करना चाहिए[१]।

कुछ लोग श्रवण को ही ब्रह्म के अपरोक्षज्ञान का साधन मानते हैं; मनन और निदिध्यासन को वे श्रवण के प्रति फल के उपकारी अङ्गभूत मानते हैं। किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि कहीं भी शब्द की साक्षात् कारणता नहीं देखी जाती[२]। शब्द की साक्षात् कारणता मानने पर जिस प्रकार ब्रह्मविषयक शब्द ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण होगा उसी प्रकार धर्मविषयक शब्द धर्मसाक्षात्कार का भी साक्षात् कारण प्रसक्त होगा। यहां पर आचार्य ने स्मृति-वाक्य को उद्धृत करते हुए श्रवण,मनन और निदिध्यासन के महत्व को समर्थित किया है[३]।

शास्त्रों के सम्यग् ज्ञान में तारतम्य होता है इसलिये उससे होने वाले सुख में भी तारतम्य होता है। ज्ञान से ही वैराग्य और भक्ति आदि होते हैं और भक्ति आदि सुख का कारण हैं। यद्यपि वैराग्य,भक्ति आदि मोक्ष के कारण हैं, किन्तु जयतीर्थ के मत में मोक्ष बन्ध का प्रध्वंसमात्र नहीं अपितु सुख भी है[४]। अत: सम्यग् ज्ञान के तारतम्य से सुख का तारतम्य स्वाभाविक है। उत्तम सम्यग् ज्ञान से उत्तम सुख, मध्यम सम्यग् ज्ञान से मध्यम सुख और अल्पज्ञान से अल्प सुख होता है, इसी प्रकार मिथ्याज्ञान के तारतम्य से दु:ख में भी तारतम्य होता है[५]।

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० ५३५

२. द्रष्टव्य वही पृ० ५३८

३. श्रुत्वा मत्वा तथा ध्यात्वा तदज्ञातविपर्ययौ।
   क्षयं च परापुच्य लभते ब्रह्मदर्शनम् ॥ न्या० सु० पृ० ५३८ में उद्धृत

४. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० ५४०

५. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० ५४०

यम-नियमादि का महत्व —

भगवत्-साक्षात्कार के लिए जयतीर्थ ने योग-दर्शन में प्रतिपादित यम नियमादि योगाङ्गों का महत्व भी स्वीकृत किया है । मोक्ष के अतिरिक्त सांसारिक विषयों के प्रति आकाङ्क्षा रखने पर ब्रह्म की प्राप्ति संभव नहीं होती । विषयसंसर्गादि दोष ज्ञान के विरोधी हैं । भगवदुपासना की उत्पत्ति में यमादि अङ्ग हैं । विषयों से संसर्ग रखने वाला व्यक्ति भक्ति रहित होता है, उसमें उपासना की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । मन के अन्यत्र आसक्त होने पर स्नेह रहित व्यक्ति के लिये भगवान् का सन्तत चिन्तन उपपन्न नहीं होता है । मोक्ष की कामना करने वाले व्यक्ति को विषयसंसर्गादि दोषों का त्याग करना चाहिए क्योंकि ये मोक्ष के विरोधी हैं, जिस प्रकार आरोग्य की कामना करने वाले को आरोग्य विरोधी अपथ्य का त्याग करना चाहिए, और विष्णु की भक्ति करनी चाहिए । रागादि से संसार होता है और विपरीत ज्ञानादि से नरक की प्राप्ति होती है ।

विभिन्न मतों के मोक्ष-साधनों की आलोचना

चार्वाकमत निराकरण —

चार्वाक मत के अनुसार मोक्ष का सर्वथा अभाव है । स्रक्-चन्दनादि विषय-सुखों का भोग ही पुरुषार्थ है, जो शरीर पात पर्यन्त ही होता है । शरीरपात के अनन्तर स्वर्ग या अपवर्ग नहीं है, क्योंकि आत्मा शरीर से अतिरिक्त नहीं है और वह शरीर नष्ट ही हो जाता है । अत: मोक्ष का अभाव है ।

चार्वाकों का मत अनुपयुक्त है । वे मोक्षाभाव को प्रमाणित नहीं कर सकते हैं । चार्वाक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं और प्रत्यक्ष से मोक्षाभाव सिद्ध नहीं होता है । परमानन्द कीअवाप्ति से विशिष्ट आत्यन्तिकी दु:खनिवृत्ति ही मोक्ष है[१] । उसके अभाव का ज्ञान तब ही सकता है जबकि यह सिद्ध हो कि कोई भी पुरुष परमानन्द का अनुभव करने वाला नहीं है, अपितु सभी दु:खी हैं । किन्तु अन्य पुरुष में वर्तमान सुख और दु:ख या उनका अभाव अन्य पुरुष के प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं, अत: मोक्षाभाव प्रत्यक्ष से नहीं सिद्ध हो सकता है ।

यहां पूर्वपक्षी का यह कहना है कि प्रमाण के अभाव में मोक्ष का अभाव भले न सिद्ध हो किन्तु उसके सद्भाव का निश्चय भी तो नहीं होगा । मोक्ष के सद्भाव में प्रत्यक्ष प्रमाण तो है नहीं, क्योंकि परपुरुषवर्ती परमानन्द और दु:ख के अभाव का प्रत्यक्ष अन्य को नहीं हो सकता है एवं स्वनिष्ठ परमानन्द के अभाव का ही निश्चय होता है, और प्रत्यक्ष से अतिरिक्त किसी प्रमाण का प्रामाण्य ही असिद्ध है । इस प्रकार साधक बाधक प्रमाण के अभाव

---

१. मोक्षो हि नाम परमानन्दावाप्तिविशिष्टात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः । न्या०सु० पृ० ५८६

में मोक्ष के विषय में अप्रतिपत्ति या नित्य संशय ही होगा । इसलिये उस अनिश्चित वस्तु के लिये उपासना का अनुष्ठान उपयुक्त नहीं होगा ।

मोक्ष का निश्चय प्रत्यक्ष से होता है—

पूर्वपक्ष का उक्त कथन ठीक नहीं है । प्रत्यक्ष से मोक्ष के सद्भाव का निश्चय उपपन्न होता है । यद्यपि सामान्य लोगों का प्रत्यक्ष मोक्ष का निश्चय करने में समर्थ नहीं हैं, तथापि महापुरुषों के प्रत्यक्ष से मोक्ष का निश्चय उपयुक्त ही है । और उनके प्रत्यक्ष का बोध उनके वाक्यों से अन्य लोगों को भी हो जायेगा । योग सामर्थ्य से भगवान् की साक्षात् प्राप्त करके उनकी कृपा से ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले वसिष्ठादि ऋषि दिव्यदृष्टि से परपुरुषवर्ती मोक्ष को साक्षात् ही देखते हैं । अत: मोक्ष का अनिश्चय नहीं है । उनके वाक्यों को विप्रलम्भक नहीं कहा जा सकता है,क्योंकि उनके द्वारा दिये गये वर और शाप अव्यभिचरितरूप से सत्य होते हैं, इसके अतिरिक्त उनका किसी भी कथन में कोई अन्य प्रयोजन नहीं होता जिससे वे विप्रलम्भक वाक्य बोलें ।

जैनमत-निराकरण—

जैन लोग मोक्ष का सद्भाव तो स्वीकृत करते हैं किन्तु वे सम्यग् ज्ञान, सम्यक् चारित्र, आदि के समुच्चय को मोक्ष का साधन मानते हैं । यह उपयुक्त नहीं है । यद्यपि जयतीर्थ भी धर्मज्ञान के समुच्चय को मोक्ष के साधन के रूप में स्वीकृत करते हैं किन्तु जैनाभिमत सम्यग्ज्ञानादि मोक्ष का साधन नहीं हो सकते क्योंकि जिन-वाक्यों से धर्मादि की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं है तथा जिन-वाक्य स्वयं में प्रमाण नहीं हैं । उनके वाक्यों में दो विकल्प हो सकते हैं — (१) उन्होंने प्रमाण से अर्थ को प्राप्त कर वाक्यों का प्रणयन किया है अथवा (२) अन्यथा । द्वितीय विकल्प मानने पर उनके वाक्य पौरुषेय और निर्मूल सिद्ध होंगे । प्रथम विकल्प में उन्होंने प्रत्यक्ष या अनुमान से ही अर्थ को प्राप्त

किया होगा। ऐसी स्थिति में वह अर्थ अनधिगत नहीं होगा और अनधिगत अर्थ का ही वाक्य प्रमाण से प्रतिपादन होता है । यदि वाक्यान्तर से उनको अर्थ का ज्ञान हुआ मानें तो अन्ध-परम्परा का प्रसंग होगा ।

इसके अतिरिक्त जैनाभिमत आत्मज्ञान इसलिये भी मोक्ष का साधन नहीं हो सकता क्योंकि वह अचेतन है । ज्ञात आत्मा भी मोक्षद नहीं हो सकता क्योंकि पुद्गल आत्मा अस्वतन्त्र और दु:खादि अनर्थों वाला है । जो स्वयं जिस अनर्थ से युक्त होता वह उसके निवर्तन में असमर्थ होता है जैसे दरिद्र पुरुष दरिद्रता के निवर्तन में ।

ईश्वरज्ञान का साधनत्व –

आत्मज्ञान के समान ईश्वरज्ञान भी मोक्षद नहीं है । ईश्वर ज्ञान को मोक्ष का साधन कहने का अभिप्राय ज्ञान को ही साधन कहना नहीं है । प्रसन्न ईश्वर ही मोक्ष का साधन होता है । ईश्वर ज्ञान उनको प्रसन्नता का साधन होने के कारण मोक्ष का साधन कहा जाता है । वह प्रसन्न ईश्वर संकल्प करता है कि अमुक समय में अमुक व्यक्ति को मुक्त करूंगा और उसकी कल्पना के अनुसार वह व्यक्ति उस समय मुक्त हो जाता है । जिस प्रकार ब्राह्मण के विद्या आचरणादि से प्रसन्न होकर समर्थ राजादि संकल्प करता है कि अमुक पर्व में इसे गाय दूंगा और तदनुसार गाय आदि देता है[१]।

कर्म के मोक्षसाधनत्व का निराकरण

कर्म भी अचेतन होने के कारण मोक्ष का साधन नहीं हो सकता है । मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त होने वाले कर्म के विषय में दो विकल्प हो

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु० पृ० ५५१

सकते हैं —

(१) मोक्ष की प्राप्ति पर्यन्त क्रियमाण एक ही कर्म होता है या
(२) अनेक कर्म । इनमें से प्रथम विकल्प नहीं माना जा सकता है, क्योंकि क्रियाएं अनेक देखी जाती हैं और प्रत्येक क्रिया से कर्म की उत्पत्ति होती है । यदि एक ही कर्म होता तो एक बार उत्पन्न वस्तु का ही जन्म होता और अग्रिम क्रियाओं को व्यर्थता प्राप्त होती । यदि कर्म को एक ही मान लिया जाय तो जिस प्रकार प्रथम क्रिया के उत्तर काल में उत्पन्न कर्म सम्पूर्ण दु:खों के विलय पूर्वक मोक्ष का कारण नहीं होता उसी प्रकार उत्तरकाल वाला वही कर्म भी उस काल में मोक्ष का कारण नहीं होगा । द्वितीय विकल्प स्वीकृत करने पर जैसे प्रथम कर्म मोक्ष का साधन नहीं हुआ उसी प्रकार अन्तिम कर्म भी मोक्ष का साधन नहीं हो सकता है । तथा अन्तिम कर्म से व्यतिरिक्त कर्मों को मोक्ष का साधन माना ही नहीं जा सकता, क्योंकि उस दशा में उसके अनन्तर ही मोक्ष का प्रसंग होगा और उसके बाद कर्म नहीं होगा । पूर्व कर्मों से सहकृत अन्तिम कर्म का मोक्ष-साधनत्व भी नहीं स्वीकृत किया जा सकता है, क्योंकि कर्मों की इयत्ता के अभाव में मोक्ष के अनियतकारणकत्व का प्रसंग होगा । ऐसा भी कोई प्रमाणवान् नियम नहीं है कि ज्ञानोदय के अनन्तर इतने काल में ही इतने ही कर्म करके कोई मुक्त हो जाता है ।

संसार-बन्ध की हानि समर्थ अन्य पुरुष की प्रसन्नता से ही होती है, जैसे भृत्यादि की निगडादि-बन्ध की हानि राजादि की प्रसन्नता के अधीन होती है । संसारबन्ध से मुक्ति देने वाला समर्थ पुरुष ईश्वर ही है ।

बौद्धाभिमत मोक्षसाधन का निराकरण

शून्य के साधनत्व का निराकरण--

शून्यवादिमत के अनुसार शून्य की भावना ही मोक्ष का साधन है। किन्तु,शून्य की भावना या शून्य का ध्यान मोक्ष-साधन है,इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है। शून्य के मोक्षसाधनत्व में दो विकल्प संभव हैं -- (१) शून्य का परिज्ञानादि स्वयं मोक्ष का साधन है या (२) शून्य प्रसादन मोक्षसाधन है। उक्त दोनों ही विकल्प अनुपयुक्त हैं। शून्य का परिज्ञानादि अचेतन होने के कारण स्वयं मोक्ष का साधन नहीं हो सकता तथा शून्य में प्रसाद गुण अङ्गीकृत ही नहीं किया जा सकता है। यदि उसमें प्रसाद गुण मानें तो शून्यत्व का व्याघात होगा।

संवृतिनामक अज्ञानरूप निमित्त से होने वाला अध्यास ही बन्ध है। और संवृति शून्य के ज्ञान से निवृत्त हो जाती है, क्योंकि शून्य-ज्ञान उसका विरोधी है। संवृति के निवृत्त हो जाने पर तन्मूलक बन्ध भी निवृत्त हो जायेगा-- यह कथन भी उपयुक्त नहीं है,क्योंकि बन्ध की अध्यस्तता अमान्य है। यदि किसी तरह यह मान भी लिया जाय कि शून्यज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति होती है तो उसे ज्ञानोदय के अनन्तर क्षण में हो हो जानी चाहिए, उसमें विलम्ब नहीं होना चाहिए। प्रदीप के द्वारा विरोधी अन्धकार के निवर्तन में विलम्ब नहीं होता है। किन्तु शून्यज्ञान के अनन्तर भी पुरुषों का संसरण अङ्गीकृत किया जाता है।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि असंभावना और विपरीत भावना के होने से विलम्ब होता है, तो प्रश्न होता है कि असंभावना और विपरीत भावना संवृति के कार्य हैं या नहीं ? यदि वे संवृति के कार्य नहीं हैं, ऐसा माना जाय तो शून्यवाद की ही निवृत्ति हो जायगी क्योंकि उनकी सत्ता शून्य के अतिरिक्त हो जायगी। यदि वे संवृति के कार्य हैं तो संवृति के निवृत्त होने पर उनकी भी

निवृत्ति अवश्य हो जानी चाहिए, क्योंकि कारण के निवृत्त हो जाने पर कार्य भी निवृत्त हो जाता है, अन्यथा या तो संवृति की निवृत्ति नहीं हुई या ये दोनों संवृति के कार्य नहीं हैं; और यदि संवृति शून्य ज्ञान के बाद भी निवृत्त नहीं हुई तो उसका ज्ञानविरोधित्व नहीं माना जा सकता है[1]।

ईश्वरज्ञान के अनन्तर मोक्ष-प्राप्ति में विलम्ब उपयुक्त है —

द्वैत मत में ईश्वरज्ञानादि के अनन्तर मोक्ष-प्राप्ति में विलम्ब होना असंगत नहीं है, क्योंकि प्रसन्न ईश्वर की इच्छा से नियत काल में ही मोक्ष होता है। ईश्वर-ज्ञानादि तो उसकी प्रसन्नता के साधन हैं। किन्तु केवल शून्यज्ञान ही बन्ध विरोधी होने से उसका निवर्तक है, ऐसा मानने पर ज्ञानोदय के अनन्तर मोक्ष में प्रतिबन्धक कोई नहीं है। जो भी प्रतिबन्धक रूप से कल्पित किया जायेगा वह सब संवृति का कार्य होने से ज्ञानविरोधी होगा। अतः शून्यज्ञान के अनन्तर मोक्ष में विलम्ब उपपन्न नहीं है। जागने के अनन्तर स्वाप्नबन्ध की निवृत्ति में विलम्ब नहीं होता है।

मोक्ष के अतिरिक्त अन्यत्र भी विलम्ब में ईश्वरेच्छा को निमित्त मानना उपयुक्त है। कारण सामग्री के होने पर भी कार्य के विलम्ब में दृष्ट सामग्री में न्यूनता न होने पर ईश्वरेच्छा ही कल्पित करनी चाहिए। यहाँ धर्म-वैकल्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। धर्म-वैकल्य मानने पर उत्तरकाल में कार्य का उदय नहीं होगा, क्योंकि धर्मवैकल्य तो उस समय भी बना रहेगा। इस बीच किसी धर्म का अनुष्ठान नहीं किया जाता है जिससे पूर्व धर्मवैकल्य दूर हो सके।

इसी प्रकार विज्ञानवाद, वैभाषिक और सौत्रान्तिक मतों में स्वीकृत मोक्षसाधन भी अनुपयुक्त हैं।

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० ५५२

सांख्यादि मतों का निराकरण

सांख्य मत—

सांख्य मत के अनुसार अन्तःकरणादिरूप प्रकृति और स्वात्मा पुरुष का विवेकज्ञान ही मोक्ष का साधन है। इस सम्बन्ध में सांख्यानुयायी प्रमाण देते हैं—

> य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
> सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥[१]
> क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञान-चक्षुषा ।
> भूत-प्रकृति-मोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥[२]

किन्तु प्रकृतिपुरुषविवेक का साक्षात् मोक्षसाधनत्व उपपन्न नहीं है। यह विवेक मोक्षसाधन तो होता है किन्तु भगवत्-प्रसाद के साधन रूप से। प्रकृति पुरुष विवेक होने पर पुरुष को वैराग्य सम्पन्न होता है और विरक्त पुरुष को भक्ति आदि के द्वारा भगवत्-प्रसाद प्राप्त होता है। भगवत्-प्रसाद ही मोक्ष का साधन है यह तो कहा ही जा चुका है। प्रकृतिपुरुषविवेक के मोक्षसाधनत्व में उद्धृत उपर्युक्त गीतावाक्य इसी पारम्पर्य अर्थ को बताने वाले हैं, जिस प्रकार `लाङ्गलेन वयं जीवामः` वाक्य में लाङ्गल (हल) का जीवनसाधनत्व परम्परया विवक्षित है, साक्षात् नहीं।

न्यायवैशेषिक और योग में ईश्वर-प्रसाद की स्वीकृति—

न्यायसूत्रकार गौतम ने यद्यपि प्रमाणादि षोडशपदार्थों के

---

१. गीता १३ । २३

२. वही १३ । ३४

तत्त्वज्ञान से मोक्षप्राप्ति कही है[१]; तथापि 'प्रमाणादि पन्द्रह पदार्थों का तत्त्वज्ञान आत्मादि द्वादशविध प्रमेयों के तत्त्वज्ञान का हेतु है, ऐसा उन्होंने अङ्गीकृत किया है, क्योंकि 'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्'[२] इस सूत्र में 'तु' शब्द का प्रयोग है, जो आत्मादि के प्रमाणादि-ज्ञेयत्व का सूचक है। आत्मादि का ज्ञान भी साक्षात् मोक्ष का साधन नहीं, किन्तु ईश्वर-प्रसाद-सहकृत होकर ही है। क्योंकि —

> स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः।
> यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते ॥(उद्धृत न्या० सु० पृ० ५५५)

यह उनके सम्प्रदाय-विदों का वचन है।

वैशेषिक मत प्रवर्तक कणाद ने द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य वैधर्म्य से तत्त्वज्ञान को निःश्रेयस का हेतु कहा है[३]। और तत्त्वज्ञान का निःश्रेयस-हेतुत्व धर्म के द्वारा ही माना है, अन्यथा 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'[४] इस सूत्र का विरोध होगा। धर्म भी साक्षात् नहीं, अपितु ईश्वर-प्रसादसहकृत होकर ही निःश्रेयस का हेतु है जैसा कि उन्होंने कहा है -- 'तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव'। और स्पष्ट करते हुए कहा गया है —

> दुष्टैर्मोचयतो बद्धानदुष्टैर्बध्नतः पुनः।
> कारागारमिदं विश्वं यस्य वन्दे तमीश्वरम् ॥ उद्धृत न्या० सु० पृ० ५५५

योगसूत्रकार पतञ्जलि ने तो स्पष्टरूप से 'तपः स्वाध्याये-

---

१. न्या० सू० १।१।१

२. वही १।१।९

३. वै० सू० १।१।४

४. वही १।१।२

श्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः[1] इत्यादि कहकर ईश्वर-प्रसाद को मोक्ष का साधन स्वीकृत किया है ।

न्यायादिमतों में दोष --

यद्यपि उक्त न्यायादि मतों में ईश्वरप्रसाद को मोक्ष साधन स्वीकृत किया है किन्तु उसे धर्मादि का सहकारी माना गया है । वैशेषिकों ने ईश्वर को धर्म का सहकारी कहा है, पतञ्जलि ने ईश्वर-प्रणिधान को तपःस्वाध्यायादि का समकक्ष माना है और नैयायिकों ने भी ईश्वरप्रसाद को सहकारी मानते हुए तत्त्वज्ञान को ही मोक्षसाधन माना है । इस प्रकार उक्त मतों में अल्प दोष है[2] । श्रुतियों और स्मृतियों में धर्मादि समस्त को साक्षात् या परम्परया भगवत्-प्रसाद का साधन कहा गया है और भगवत्प्रसाद तो अनन्यापेक्ष साक्षात् ही मोक्ष का साधन कहा गया है ।

भाट्टमत-निराकरण --

भाट्टमत के अनुसार नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध, इन चार प्रकार के कर्मों में से काम्य और निषिद्ध कर्मों का त्याग करते हुए नित्य और नैमित्तिक कर्मों को मोक्ष का साधन माना गया है । नित्य कर्म वे हैं जिनके न करने से प्रत्यवाय उत्पन्न होता है तथा जो ब्राह्मण्यादि के निमित्त से ही विहित हैं, जैसे सन्ध्यावन्दनादि । नैमित्तिक कर्म वे हैं जिनके न करने से प्रत्यवाय उत्पन्न होता है तथा जो पितृमरणादि आगन्तुक निमित्त को लेकर विहित हैं, जैसे पितृ-

---

1. यो० सू० २।१
2. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० ५५५
3. सर्वं तदन्तरायाय मुक्तये साधनं भवेत् ।
   न किञ्चिदन्तरायाय विमोक्षायापरोक्षदृक् ।। (उद्धृत न्या० सु० पृ० ५५५)

श्राद्धादि । जिनके करने से फल होता है और न करने से प्रत्यवाय नहीं होता, ऐसे कामना के निमित्त से किये जाने वाले कर्म `काम्य` हैं, जैसे ज्योतिष्टोमादि । और प्रतिषिद्ध किये गये ब्रह्महत्यादि कर्म `निषिद्ध` हैं ।

संसार सुख दु:ख और उनका कारण रूप है और उनका निमित्त कर्म है । नित्य और नैमित्तिक कर्मों के न करने से अधर्म होगा और वह दु:ख का साधन होगा । इसी प्रकार निषिद्धकर्म से उत्पन्न अधर्म भी दु:ख का कारण होगा । काम्य कर्मों के करने से सुख और उसके साधनों की प्राप्ति होगी। मोक्ष को कामना करने वाला व्यक्ति नित्य और नैमित्तिक कर्मों को नियम से करता है । और निषिद्ध कर्मों का त्याग कर देता है,इसलिये अधर्म नहीं होता तथा काम्य कर्मों का त्याग कर देने से धर्म नहीं होता है । इस प्रकार अनागत धर्माधर्म उत्पन्न नहीं होते और पूर्वोपात्त कर्मों का भोग से क्षय हो जाता है । अन्तत: संसृति के निर्बीज हो जाने पर वह मुक्त हो जाता है । जैसा कहा गया है —

मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयो: ।
नित्य नैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिघांसया ।।(न्या॰ सु॰ पृ॰ ४४८)

उक्त भाट्टमत अनुपपन्न है । `नान्य: पन्था विद्यते अयनाय[1] इत्यादि श्रुति में भगवज्ज्ञान के व्यतिरिक्त अन्य के मोक्षसाधनत्व का निषेध किया गया है । इसके अतिरिक्त नित्य और नैमित्तिक कर्मों का सम्यग् अनुष्ठान अशक्य है, जैसा कि श्रुति कहती है —

`चरन्ति देवा विहितं समस्तमर्थमेवमुनयो वशांशतो मनुष्या: ।`(न्या॰सु॰ पृ॰ ४४८)

निषिद्ध कर्मों का सर्वथा न करना भी संभव नहीं है,प्रमादवश मानस,वाचिक और कायिक कार्य अपरिहार्य होते हैं । प्रायश्चित्त कर्म का भी सम्यग् अनुष्ठान अशक्य होने से उनका क्षय भी नहीं हो सकता है । तथा च पूर्वोपार्जित कर्मों के अनन्त होने से भोग से उनका क्षय तो अत्यन्त असंभावित है । अत: नित्य और नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से भी मोक्ष-प्राप्ति संभव नहीं है ।

---

१. श्वे॰ उ॰ ६।१५

मायावादिमत निराकरण

मायावादी पर और अपर दो प्रकार का मोक्ष मानते हैं। उनके अनुसार वैकुण्ठ सत्य लोकादि की प्राप्ति अपरमोक्ष है, और अविद्या का विनाश हो जाने पर अद्वैत ब्रह्म-अवस्थान पर मोक्ष है। प्रतीकादि-विषयक अन्यथा उपासना वैकुण्ठादि की प्राप्ति का साधन है और एकत्व-विज्ञान परमोक्ष का।

उक्त मत असंगत है। अन्यथा उपासना मोक्ष का साधन नहीं हो सकती। ऐसा मानने पर 'अन्धं तम: प्रविशन्ति ये त्वविद्यामुपासते'[1] श्रुति का विरोध होगा। 'न प्रतीके न हि स:'[2] कहते हुए सूत्रकार ने भी अन्यथोपासन को सर्वथा अकर्तव्य बताया है।

एकत्व-विज्ञान से भी पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। श्रुति 'तमेवं विद्वान्'[3] इत्यादि से सहस्रशिर वाले महामहिमाशाली भगवान् के ज्ञान को अमृतत्व का साधन बताती हुई 'नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय'[4] कहकर साधनान्तर का अभाव बताती है।

इसके अतिरिक्त अद्वैत-ज्ञान देवता या राजादि के प्रसाद के साधन यागादि के समान या राजसेवादि के समान मोक्ष का साधन नहीं है अपितु अविद्या का विरोधी होने से है। अत: अविद्या के विरोधी अद्वैत साक्षात्कार के हो जाने पर अविद्योपादानक बन्ध स्वयं ही निवृत्त हो जायेगा। और इस प्रकार जिसे अद्वैत-साक्षात्कार हो जायेगा उसको उत्तर क्षण में ही देहादिद्वैत के दर्शन का अभाव प्राप्त होगा। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है।

---

१. ई० वा० ९

२. ब्र० सू० ४।१।४

३. श्वे० उ० ६।१५

४. श्वे० उ० ६।१५

अद्वैत का साक्षात्कार कर लेने वालों के भी देहादि द्वैत व्यवहार होते हैं।

`यद्यपि ज्ञान से अविद्या निवृत्त हो जाती है तथापि उसके संस्कार से द्वैत-दर्शन की अनुवृत्ति होती है `— यह कहना ठीक नहीं है। संस्कार तो अविद्या के कार्य हैं, अविद्या के निवृत्त हो जाने पर उसके कार्य-भूत संस्कारों का अवस्थान उपपन्न नहीं है। उपादान के निवृत्त हो जाने पर उसका कार्य अवस्थित नहीं रहता है। ज्ञान के उदय होने पर भी यदि अविद्या के संस्कारों की निवृत्ति नहीं होगी तब तो उनकी सदा अनुवृत्ति होती रहेगी,क्योंकि संस्कारों का निवर्तक अन्य कोई नहीं है ; और इस प्रकार कभी भी द्वैतदर्शन की निवृत्ति नहीं होगी और एकत्व-ज्ञान के अभाव में मोक्ष-प्राप्ति संभव नहीं होगी।[1]

इसके अतिरिक्त आत्मा तो असंग है अत: उसका अविद्या से सम्बन्ध नहीं होना चाहिए और अविद्यासम्बन्ध के बिना ही उसे संस्कारों का आश्रय मानना अयुक्त है। प्रारब्ध कर्मवश द्वैत की अनुवृत्ति का मत भी उक्त प्रकार से ही निरस्त होता है।

`ज्ञान से निवृत्त होकर भी अविद्या दग्ध-पटन्याय से कुछ काल तक अवस्थित रहती है,अर्थात् जिस प्रकार पट जल जाने के बाद भी कुछ क्षण तक अवस्थित रहता है, उसी प्रकार अविद्या भी निवृत्त होकर भी कुछ क्षण तक अवस्थित रहती है। इस प्रकार अविद्या के निवृत्त हो जाने पर द्वैत की अनुवृत्ति उपपन्न होती है `— पूर्वपक्ष का ऐसा कथन भी समीचीन नहीं है। इस प्रकार से तो आत्यन्तिक निवृत्ति का अन्य कोई कारण न होने से कभी भी द्वैत-दर्शन की निवृत्ति नहीं होगी।

`अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर भी अविद्या का लेश

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० ५६०-६१

अवस्थित रहता है, जिससे द्वैत-दर्शन की अनुवृत्ति उपपन्न होती है— ऐसा भी नहीं माना जा सकता है । लेश के विषय में तीन विकल्प संभव है --(१) या तो वह अविद्या का अवयव है जैसे तन्तु पट का अवयव है,(२) या तो अविद्या का प्रदेश है,(३) या अविद्या का धर्म है । उक्त तीनों विकल्पों से लेश की अवस्थिति सिद्ध नहीं होती है । प्रथम विकल्प नहीं स्वीकृत किया जा सकता क्योंकि अविद्या, लेश का कार्य नहीं है, जिस प्रकार पट तन्तु का कार्य है । द्वितीय विकल्प भी अस्वीकरणीय है,क्योंकि अविद्या में प्रदेश अङ्गीकृत नहीं है, इसके अतिरिक्त प्रदेशी के निवृत्त हो जाने पर प्रदेश का अवस्थान भी नहीं रह सकता है । तृतीय विकल्प स्वीकृत करने पर भी लेश की अवस्थिति अनुपपन्न है,क्योंकि धर्मी के निवृत्त हो जाने पर धर्म की निवृत्ति न हो, यह उपपन्न नहीं है[1]।

पूर्वपक्ष –

संसार की मूलकारणभूता अविद्या यद्यपि एक ही है तथापि उसके अनेक आकार हैं । `इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते ` श्रुति माया के अनेक आकार सूचित करती है । उनमें से एक आकार बन्ध के सत्यत्व का भ्रम उत्पन्न करता है, दूसरा अर्थक्रिया समर्थ वस्तुओं का कल्पक है और तीसरा अपरोक्ष-प्रतिभास विषयों के आकार का कल्पक है । अद्वैत के सत्यत्व का अध्यवसाय हो जाने पर समस्त द्वैत के सत्यत्व का कल्पक आकार निवृत्त हो जाता है,अर्थक्रिया-समर्थ प्रपञ्च का उपादान माया का आकार तत्त्वसाक्षात्कार से विलीन हो जाता है,किन्तु अपरोक्ष प्रतिभासयोग्य अर्थाभास का जनक माया का आकार जीवन्मुक्त का भी निवृत्त नहीं होता है । वह समाधि की अवस्था में तिरोहित हो जाता, और उस अवस्था के बाद पुन: देहाभास के हेतुरूप से अनुवर्तित होता है । वह प्रारब्ध कर्मफलों के उपभोग का अवसान हो जाने पर निवृत्त हो जाता है ।[2]

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० ५६१

२. वही, पृ० ५६१

निराकरण —

पूर्वपक्ष की उक्त कल्पना निष्प्रमाणक है। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'[1] इस श्रुति को इसका प्रमाण कहना ठीक नहीं है। उक्त श्रुति में परमेश्वर की शक्ति का प्रतिपादन किया गया है। इसमें ज्ञान से बाध्य अनिर्वाच्य माया के आकार का प्रतिपादन ज्ञात नहीं होता है। 'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमाया-निवृत्तिः'[2] इस श्वेताश्वतर मन्त्र में भी यह बताया गया है कि उस परमेश्वर में बार-बार मन को लगाने से जो तत्वज्ञान उत्पन्न होता है, उस तत्वज्ञान से होने वाले परमेश्वर के अभिध्यान और अनुग्रह से कर्मों का क्षय होता है। तथा कर्मों का क्षय होने पर विश्वबन्धक माया की निवृत्ति होती है। उक्त वाक्य में अनिर्वाच्य अविद्या की ज्ञान से बाध-लक्षण निवृत्ति का कथन नहीं है।

इसके अतिरिक्त जो माया का आकार अनुवर्तित होने वाला कहा जाता है, तत्वज्ञान उसका विरोधी है या नहीं?[3] यदि विरोधी है तो तत्वज्ञान हो जाने पर उस मायाकार को अवश्य निवृत्त होना चाहिए। और यदि विरोधी नहीं है तो ज्ञान से कभी निवृत्त नहीं होगा, और इस प्रकार वह सत्य होगा। 'कर्मों का क्षय होने पर निवृत्त होता है'— ऐसा मानने पर तो उसके प्रति कर्म का कारणत्व कथित होता है। यदि कर्म उसका कारण नहीं है, तो कर्म के निवृत्त होने पर उसकी निवृत्ति अनुपपन्न होगी।

यदि यह माना जाय कि अविद्यालेश का निवर्तक तो ज्ञान ही है, किन्तु प्रबल प्रारब्ध-कर्म से प्रतिबद्ध होने से ज्ञान उसे निवृत्त नहीं कर पाता,

---

१. बृ० उ० २।५।१९

२. श्वे० उ० १।१०

३. द्रष्टव्य न्या० सु० पृ० ५६१

फलभोग से प्रतिबन्धक क्षीण हो जाता है और फिर ज्ञान उसे निवृत्त कर देता है '— तो भी ठीक नहीं है,क्योंकि उस स्थिति में कर्म निरुपादान होता है और निरुपादान कर्म की अवस्थिति उपपन्न नहीं है । उस अविद्यालेश को ही कर्म का उपादान मानना ठीक नहीं है । ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा ; क्योंकि कर्म के अवस्थित होने पर अविद्यालेश का अवस्थान है, और अविद्यालेश के अवस्थित होने पर कर्म का अवस्थान ।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'जीवन्मुक्ति को अन्यथा-अनुपपत्ति के कारण संस्कारानुवृत्ति आदि की कल्पना की गयी है '—तो ठीक नहीं है । परमपुरुष भगवान् के अनुग्रह से ही मोक्ष होता है, इस सम्पूर्ण श्रुति-इतिहास-पुराणादि सिद्ध अर्थ को स्वीकृत करलेने से सभी कुछ उपपन्न हो जाता है, तथा उक्त कल्पना का अवकाश नहीं होता ।

इस प्रकार जयतीर्थ ने मोक्षाभाव या मोक्षभाव मानकर उसके अन्य साधनों के विभिन्न मतों को अनुपपन्न बताया है । उनके अनुसार साक्षात् भगवत्-प्रसाद ही मोक्ष का साधन है । निष्काम होकर भगवान् की प्रसन्नता के लिये श्रुति स्मृत्यादिविहित कर्मों का अनुष्ठान करने से पुरुष का अन्त:करण शुद्ध हो जाता है और रागादि दोषों का क्षय हो जाता है । रागादि का क्षय हो जाने पर हृदय में भगवान् की भक्ति उत्पन्न होती है । भक्तियुक्त होकर श्रवण,मनन और निदिध्यासन का अभ्यास करने वाले परम-भागवत को भगवान् का साक्षात्कार हो जाता है । और प्रसन्न हुए भगवान् उसके प्रारब्ध कर्मों का विनाश कर देते हैं, किन्तु भागवतधर्म की प्रवृत्ति के लिये ज्ञानी को भी कुछ काल तक व्यवस्थापित करते हुए, कुछ प्रारब्ध कर्मों को अवशिष्ट कर देते हैं । उन अवशिष्ट कर्मों के फलों का उपभोग हो जाने पर भगवान् उसे प्रकृति के बन्धन से मुक्त कर देते हैं ।

प्रारब्ध कर्मों के फल का ह्रास

जयतीर्थ ने प्रारब्ध कर्मों के क्षय का स्पष्टीकरण किया है । यद्यपि स्मृतियों में प्रारब्ध कर्मों के फलों का उपभोग अपरिहार्य[1] कहा गया है, किन्तु यहां कर्मफलभोग अनिवर्त्य रूप से प्रसक्त है, सर्वथा अनिवर्त्य नहीं है । अनिवर्त्य रूप से प्रसक्त की निवृत्ति संभव है । जैसे विषभक्षणादि से मृत्यु अनिवर्त्यतया प्रसक्त तो है, किन्तु सर्वथा अनिवर्त्य नहीं है, विषहर मन्त्र, औषध आदि से उसकी निवृत्ति देखी जाती है । इसी प्रकार अनिवर्त्य रूप से प्रसक्त प्रारब्धकर्मों का फलोपभोग भी ज्ञानादि से निवृत्त हो सकता है । अत: 'विषभक्षण से मरण अवश्यंभावी है' इस वचन की तरह 'अवश्यमेवभोक्तव्यम्' इत्यादि वचन का भी अर्थ समझना चाहिए । उत्सर्गत: तो प्रारब्धकर्मों का फल भोक्तव्य ही है, किन्तु अपवाद से निवृत्त होता है ।

प्रारब्ध कर्मों का पूर्णत: क्षय नहीं होता है—

प्रारब्ध कर्मों का भोग के बिना क्षय नहीं होता, किन्तु ब्रह्मज्ञान से फलह्रास हो जाता है । कुछ लोगों का मत है कि ब्रह्मज्ञान की महिमा अचिन्त्य है । अत: उसके सामर्थ्य से अप्रारब्ध कर्मों की ही तरह प्रारब्ध कर्मों का भी बिना फलभोग के ही क्षय हो जायेगा । 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' इत्यादि वाक्य अज्ञानि-विषयक हैं । बिना फलभोग के, ज्ञान से कर्मों का क्षय न मानने पर 'ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते'[2], इत्यादि भगवद् वाक्य बाधित होगा । इसके विपरीत कुछ लोगों के अनुसार परमेश्वर की इच्छा से तत्पर प्रारब्धकर्मों का फल भोगना ही पड़ता है, किसी भी कर्म के फल का ह्रास नहीं होता है ।

---

१. 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।'

२. गीता ४।३७

जयतीर्थ के अनुसार ब्रह्मज्ञान हो जाने पर प्रारब्ध कर्म का सर्वात्मना भोग न हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो ब्रह्मज्ञानी को संसार में अवस्थिति ही नहीं होगी। कर्म ही संसार-स्थिति का बीज है, कर्मक्षय हो जाने पर संसार में अवस्थान निर्बीज हो जायेगा। 'तस्य तावदेव चिरम्' इत्यादि श्रुति से कर्म का अवस्थान ज्ञात होता है। किन्तु कर्मफल का बिल्कुल ही ह्रास न हो, ऐसा भी नहीं है। शास्त्रों में ब्रह्महत्या इत्यादि के क्षय के लिये प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है। यदि कर्म फलों का अल्प भी ह्रास न हो तो प्रायश्चित्तविधि व्यर्थ होगी।

अत: प्रारब्ध कर्मों का क्षय ब्रह्मज्ञान से ही नहीं अपितु भोग से होता है, किन्तु उनके फल में ह्रास अवश्य हो जाता है, यह नियम उपपन्न होता है[१]।

---

१. द्रष्टव्य - न्या० सु०, पृ० ५७७

मुक्ति के आनन्द में तारतम्य

माध्व वेदान्त में अनादियोग्यता और साधन के तारतम्य से उसके फलरूप मुक्ति के आनन्द में भी तारतम्य माना गया है । 'तत्त्वत: भेद' इस मत का प्रमुख सिद्धान्त है । वह भेद मुक्ति की अवस्था में भी रहता है । मुक्ति की अवस्था में भी जीव परमेश्वर से भिन्न और उनके अधीन तो रहते ही हैं, किन्तु जीवों में परस्पर भी भेद हमेशा बना रहता है । उनमें कभी भी समानता नहीं होती अपितु नीचोच्चभाव रहता है । और सभी जीवों के आनन्द में परस्पर न्यूनाधिक्य होता है । इस तारतम्य का कारण है साधन का तारतम्य । लोक में वैराग्यादि मोक्ष-साधनों में तारतम्य देखा ही जाता है अत: उसके फल में भी तारतम्य होना संगत ही है ।

ब्रह्मा आदि का मुक्तिगामी आनन्द सामान्य जीवों की अपेक्षा अत्यधिक होता है क्योंकि उनके साधन ज्ञानादि उच्च होते हैं । 'स यो ह वै मनुष्याणां राद्ध:' इत्यादि वाजसनेयि श्रुति और 'सैषा आनन्दस्य मीमांसा' इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति उन ब्रह्मादि के आनन्द का तारतम्य बताती हैं । तैत्तिरीय श्रुति बताती है कि अमुक्त मनुष्य का सौगुना आनन्द मुक्त मनुष्य को होता है, और मुक्त मनुष्य का सौ गुना आनन्द मुक्त मनुष्यगन्धर्व को होता है । इसी प्रकार संसारगत मनुष्यगन्धर्व के सुख का सौ गुना सुख मुक्त मनुष्य गन्धर्व को तथा संसारगत देवगन्धर्वादि से सौ गुना सुख मुक्त देव गन्धर्व को होता है[1] । तथा च मुक्त मनुष्य के सुख का सौ गुना सुख मुक्त मनुष्य गन्धर्व को होता है ।

---

१. ये शतं मनुष्याणामानन्दा: - - - - - - स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्द: (तैत्तिरीय श्रुति) । तै॰ उ॰ २।८।१-२

आनन्द-तारतम्य में युक्ति–

देवादि मनुष्यों की अपेक्षा अधिक साधन का अनुष्ठान करते हैं अत: उनका मुक्तिगत आनन्द भी मनुष्यों के मुक्तिगत आनन्द की अपेक्षा अधिक होगा। यदि देवादिकों को मनुष्यों के सुख की अपेक्षा अधिक सुख न मिलता तो वे उसके साधन के लिये अधिक प्रयत्नवान् न होते। अधिक फल के लिये अधिक प्रयत्न करने वाले प्रेक्षावान् नहीं माने जाते। इस प्रकार विपक्ष में बाधक होने से प्रयत्नाधिक्य रूपहेतु अप्रयोजक नहीं है। जिस पुरुष में जिसकी अपेक्षा साधन का आधिक्य है,उसमें उसकी अपेक्षा साध्य का भी आधिक्य नियम से देखा जाता है। यदि लोक और वेद में साधन के आधिक्य से साध्य का आधिक्य न होता तो कोई भी साधनातिशय का अनुष्ठान न करता[१]। अग्न्याधान से जितना स्वर्गसुख मिलता है, उतना ही यदि अश्वमेध यज्ञ से भी मिलता तो कोई भी अश्वमेध में प्रवृत्त न होता। यदि प्रवृत्त होता तो अबुद्धिमान् होता। लोक में भी थोड़ी भूमि के कर्षण से जितना धान्यलाभ होता है उतना ही यदि बहुत अधिक भूमि के कर्षण से भी होता तो कोई भी अधिक भूमि के कर्षण में प्रवृत्त न होता, प्रवृत्त होता हुआ मूर्ख होगा। वृष्टि आदि दृष्ट और धर्मादि अदृष्ट साधन में ही अन्तर्भूत हैं, अत: उनको लेकर नियम में व्यभिचार की शङ्का नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार देवतादि की अपेक्षा मनुष्यादि भी अल्पसाधनवान् होने से अल्प मुक्तिफलभागी होंगे।

पूर्वपक्षी तर्क देते हैं कि मुक्त पुरुष भी उपासनादि कर्म करते हैं, और उनके कर्मानुष्ठान अलग अलग प्रकार के होंगे, क्योंकि उनके कर्म एक ही प्रकार के हों ऐसा कोई नियामक नहीं है। उनके उपासनादि में तारतम्य होने पर भी फल में तारतम्य नहीं है। अत: उक्त तारतम्यसाधक तर्क अयुक्त है। यदि सिद्धान्ती कहे कि 'मुक्तों के द्वारा अनुष्ठित साधन ही नहीं होता

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० ५७७

क्योंकि उसका साध्य नहीं है - तो उसी नियम से अमुक्तों के द्वारा भी अनुष्ठित साधन, भी साधन नहीं होगा और उनका अनुष्ठान भी मुक्त पुरुषों के अनुष्ठान के समान ही लीलात्मक होगा ।

पूर्वपक्ष का उक्त कथन समीचीन नहीं है । मुमुक्षुओं का साधनानुष्ठान मुक्तों के अनुष्ठान की तरह लीलात्मक नहीं हो सकता, उनका अनुष्ठान कष्टपूर्वक होता है, लीला कष्टवती नहीं होती है । मुमुक्षुओं के अनुष्ठान की कष्टयुक्तता में पुराणादि में अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं।[1] मोक्ष-सुख का तारतम्य भी श्रुति-स्मृति-प्रमाणों से ज्ञात होता है[2]।

यह तो बताया ही जा चुका है कि मुक्त जीव भी ईश्वर के अधीन होता है और उसको सुखादि का दाता ईश्वर ही है । यदि ईश्वर, अनुष्ठित-अल्प साधन के लिये जो फल दे, अनुष्ठित महासाधन के लिये भी वही फल दे तो निर्घृण होगा और महासाधन के समान ही अल्प साधन के लिये फल दे तो विषम होगा । किन्तु ईश्वर में वैषम्य और नैर्घृण्य की आपत्ति इष्ट नहीं है । ईश्वर में वैषम्य और नैर्घृण्य दोषों का सूत्रकार ने ही निषेध किया है[3]।

----

1. 'दशकल्पं तपश्चीर्णं रुद्रेण लवणार्णवे।

. . . .

शक्रेण वर्षकोटीश्च धूमः पीतोऽति दुःखित।'

(अनुव्याख्यान पृ० ५५ में उद्धृत)

2. ये शतं मनुष्याणामानन्दाः . . . स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः ।

(तै० उ० २।८।१-२)

3. वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति। (ब्र० सू० २।१।३४)

'यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि यदि मुक्तों के सुखादि में तारतम्य होगा तो उनमें परस्पर द्वेष होगा, अतः तारतम्य का अनुमान ठीक नहीं है।' इसका अत्यन्त [illegible] समाधान जयतीर्थ ने किया है। मुक्त पुरुष तो दोषों से सर्वथा रहित होते हैं। दोषों से रहित होकर श्रवण मनन और निदिध्यासन करने पर ही ईश्वर की भक्ति और उससे मुक्ति प्राप्त होती है। अतः मुक्तों में द्वेष ईर्ष्या आदि की कल्पना नहीं की जा सकती है। उनके स्वाभाविक दोष भगवत्-साक्षात्कार के पूर्व ही निकल जाते हैं, और भगवत्साक्षात्कार हो जाने पर समूल नष्ट हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त पूर्वपक्षी के अनुसार यदि तारतम्य स्वीकार करने पर उनमें ईर्ष्या द्वेषादि होंगे, ऐसा मान लिया जाय तो उनके सम होने पर भी उनमें ईर्ष्यादि होंगे। अपने समान के प्रति भी द्वेष देखा जाता है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि लोक में दोष ही द्वेष का कारण होते हैं साम्य नहीं, मुक्तों के निर्दोष होने से सम होने पर उनमें द्वेषादि नहीं होंगे— तो यह हमें इष्ट ही है। मुक्तों के निर्दोष होने से तारतम्य होने पर भी उनमें द्वेषादि नहीं होंगे।

पुनः यदि पूर्वपक्षी कहे कि सम की सत्तामात्र द्वेष का कारण नहीं है अपितु सम का दर्शन कारण है। मुक्त पुरुष अन्य सम मुक्त को नहीं देखता, अतः द्वेषादि नहीं होंगे- तो इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि तारतम्य की सत्ता मात्र द्वेषादि का कारण नहीं अपितु अपने से अधिक का दर्शन है, और मुक्त अपने से अधिक सुखादिमान् अन्य मुक्त को नहीं देखता है।

वस्तुतः मुक्ति में अन्य के दर्शन का अभाव नहीं स्वीकृत किया जा सकता है, क्योंकि मुक्त पुरुष अचेतन नहीं होता है। अतः पूर्वोक्त तर्क से द्वेषादि का अभाव निश्चित हो जाता है। इस प्रकार मुक्ति-सुख में तारतम्य सर्वथा प्रामाणिक और संगत है।

ज्ञानोत्तर कर्मों से भी मुक्ति सुख में तारतम्य –

ज्ञान के पूर्व किये गये साधनानुष्ठान से मुक्ति-सुख में तो तारतम्य होती ही है, ज्ञान के अनन्तर मोक्ष निश्चित हो जाने पर भी किये गये शुभ कर्मों के अनुष्ठान से भी मोक्षसुख में तारतम्य होता है[१]। यदि मुक्ति में शुका आदि के सुखादि में तारतम्य न होता तो वे ज्ञान हो जाने के पश्चात् शुभ-कर्म न करते, क्योंकि मोक्ष तो ज्ञानमात्र से ही निश्चित प्राप्तप्राय हो जाता है। अत: निश्चित होता है कि ज्ञानोत्तरकाल में किये गये विचित्र शुभ से विचित्र आनन्दवृद्धि होती है।

पूर्वपक्षी का कथन है कि ज्ञानी का कर्मों में अधिकार नहीं होता, अत: ज्ञानोत्तरकाल में किये गये कर्मों का फल नहीं होता, इसलिये उक्त प्रकार से मुक्ति के आनन्द में वृद्धि मानना ठीक नहीं है। ज्ञानोत्तर काल में ज्ञानी के द्वारा किये जाने वाले कर्मों का अनुष्ठान, ज्ञान के पूर्व के अनुष्ठानों से प्राप्त प्रवृत्ति और स्वाभाव्य से भी उपपन्न हो जायगा।

पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है। ज्ञानोत्तरकाल में भी ज्ञानियों के अनुष्ठान कष्टपूर्वक होते हैं। ऐसी प्रवृत्ति स्वभावकृत नहीं हो सकती है। उनके अनुष्ठान अज्ञ लोगों के अनुष्ठान से भिन्न प्रकार के नहीं होते हैं। यदि पूर्वपक्षी कहे कि अनुष्ठान कष्टपूर्वक होने पर भी ज्ञानियों की शुभप्रवृत्ति पूर्वतर और पूर्वतम अनुष्ठानों से प्राप्त स्वभाव के ही कारण है, वह फलवती नहीं होती, तो उसी तरह कहा जा सकता है कि अज्ञानियों की भी शुभप्रवृत्ति पूर्वतर पूर्वतमकर्मवश प्राप्त स्वभाव के कारण है, अत: वह भी फलवती नहीं होगी क्योंकि उनमें कोई विशिष्टता नहीं है।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि अज्ञान के द्वारा किये गये कर्मों के सफलत्व में श्रुति प्रमाण है— कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिण:[२]

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु० पृ० ६०२ २. गीता २।५१

इस स्मृति वाक्य में कर्मज फल का त्याग कथित है, तो ज्ञानी के द्वारा अनुष्ठित कर्मों के फलवत्व में भी श्रुतिप्रमाण है। `स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते। अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते`, यह श्रुति बताती है कि वह ज्ञानी मुक्त होकर जिस जिस की कामना करता है, उस उस कर्म को इस परमात्मा के प्रसाद से करता है। जो सर्वप्रिय परमात्मा की उपासना करता है, उसका कर्म क्षीण नहीं होता। इस श्रुति से ज्ञानी के कर्म का साफल्य सिद्ध होता है। `यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।` यह श्रुति ब्रह्मसाक्षात्कार पूर्वक किये गये कर्म को वीर्यवत्तर अर्थात् अधिक फल वाला बताती है। साथ ही `अनेवं विन्महत्पुण्यं करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एव' श्रुति अज्ञानी के कर्म फलों को क्षीण होने वाला बताती है।

पूर्वपक्षी पुनः आपत्ति करते हैं कि `स य आत्मानमेव` इत्यादि श्रुति में उपासक के कर्मों का अक्षय फल बताया गया है, एवं `यदेव विद्यया` इत्यादि श्रुति में विद्या शब्द का प्रयोग परोक्ष ज्ञान के लिये ग्रहण करने पर भी वाक्यार्थ उपपन्न होता है। इन श्रुतिवाक्यों से ज्ञानी के अनुष्ठित कर्मों का साफल्य प्रतिपादित नहीं होता है।

उक्त आपत्ति समीचीन नहीं है। ज्ञान अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार से रहित उपासक के कर्मों के दो अक्षय फल हो सकते हैं --(१) अक्षय मोक्ष और (२) अक्षय स्वर्ग। इनमें से प्रथम विकल्प मानने पर `नान्यः पन्था विद्यते`[१] इत्यादि श्रुति का विरोध होगा, क्योंकि यह श्रुति मोक्ष के ज्ञान-व्यतिरिक्त साधन का निषेध करती है। द्वितीय विकल्प भी संभव नहीं है, `पुण्यचितो लोकः क्षीयते` श्रुति स्वर्गादि फल का क्षयित्व बताती है। और `अनेवं-विन्महत्पुण्यं करोति` श्रुति का विरोध तो दोनों विकल्पों में होगा। इस प्रकार ज्ञानरहित के पक्ष में उक्त वाक्यार्थों की उपपत्ति न होने से `उपासक`

---

१. श्वे० उ० ६।१५

से ज्ञानी का ग्रहण करना ही उपयुक्त है। और 'ब्रह्माप्येति परं पदम्' इत्यादि वाक्य होने से ज्ञान पद ब्रह्मसाक्षात्कार का ही वाची है।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि, 'कर्मणा ज्ञानमाप्नोति' श्रुति से ज्ञात होता है कि अज्ञानी उपासक के द्वारा किये गये कर्म ज्ञान उत्पन्न करते हैं, और ज्ञान से मोक्ष होता है, अत: अज्ञ के द्वारा किये गये कर्मों का भी ज्ञान द्वारा अदायफलत्व उपपन्न होता है, तो इससे मुक्ततारतम्य में कोई विरोध नहीं आता अपितु उसको अनुकूलता ही प्राप्त होती है। जिज्ञासु लोग विभिन्न कर्म करते हैं अत: उनसे उत्पन्न ज्ञान भी विभिन्न होंगे। ऐसा न मानने पर अकृताभ्यागम और कृतप्रणाश की आपत्ति होगी। अत: भिन्न-भिन्न ज्ञान से मोक्ष फल भी भिन्न-भिन्न होगा। इस प्रकार मोक्ष में तारतम्य ही सिद्ध होता है।

परिशेष से तारतम्य सिद्धि --

परिशेष से भी ज्ञानी के द्वारा किये गये कर्मों का फलवत्त्व और मुक्तितारतम्य सिद्ध होता है। ज्ञानी के द्वारा किये गये कर्मों के दो प्रयोजन हो सकते हैं --(१) ज्ञान या (२) भोग। उनकी ज्ञानार्थता उपपन्न नहीं होती है, क्योंकि ज्ञान तो उसे पूर्व शुभ कर्मों से ही प्राप्त हो चुका है, उन ज्ञान-पूर्व-कर्मों का ज्ञान ही कार्य है, अन्य कोई नहीं। यदि उन कर्मों का कार्य ज्ञान न हो तो उनको व्यर्थता प्राप्त होगी।

ज्ञानी के द्वारा अनुष्ठित कर्मों की भोगार्थता भी उपपन्न नहीं होती है। भोग तो प्राचीन प्रारब्ध कर्मों से ही जायमान होता है, क्योंकि प्रारब्ध कर्मों की कृतार्थता भोगों से ही है। भोग न होने से उन कर्मों की व्यर्थता प्राप्त होती है।

अत: ज्ञानी के कर्मों का कोई अन्य प्रयोजन होना चाहिए।

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० ६०३

उनके कर्म यदि व्यर्थ होते तो वे उनका अनुष्ठान न करते । बुद्धिमान् व्यक्ति व्यर्थ कर्म नहीं करते हैं । करण-स्वभाव से उनके कर्म होते हैं, ऐसा मानने पर अबुद्धि-पूर्वता का प्रसंग होगा । यदि उनके कर्म लोकसंग्रह के लिये माने जाँय तो वही प्रयोजन होना चाहिए, यदि कहा जाय कि ईश्वर के कर्मों के समान उनके कर्म भी हैं तो मुक्त हो जाने के बाद भी उनके कर्म करने का प्रसंग होगा ।

अत: परिशेष से यह सिद्ध होता है कि ज्ञानोत्तर कर्मों के अनुष्ठान का प्रयोजन मुक्तिगत-आनन्द में वृद्धि ही है । और ज्ञान के पूर्वभावी शुभकर्मों का प्रयोजन ज्ञान है । यहाँ ज्ञानपद भक्ति का उपलक्षक है ।

समीक्षा

इस प्रकार जयतीर्थ द्वारा प्रतिपादित मोक्षसाधन भगवद्-भक्ति अतीव सरल, सयुक्तिक एवं स्पष्ट है । भगवद्-भक्ति से परे कुछ भी उन्हें स्वीकार्य नहीं है । ज्ञान को वे यद्यपि मोक्ष का साधन स्वीकृत करते हैं किन्तु उसे या तो भक्ति का उपलक्षक मानते हैं या उसका साधन[1] ।

वस्तुत: सत्यबन्ध से मुक्ति प्रभु की कृपा से ही संभव है । उस प्रभुकृपा को प्राप्त करने के लिए विषय-वैराग्यादि का साधन उचित ही है । जयतीर्थ को सर्वथा परमत-खण्डन ही अभीष्ट नहीं है । उन्होंने अंशत: न्याय-वैशेषिक और योग के मोक्षसाधन को स्वीकृत किया है किन्तु इन्हें परम्परया साधन माना है ।

मुक्ति में दु:खध्वंस के अतिरिक्त आनन्द की प्राप्ति भी युक्ति-युक्त है । मुक्त की परमानन्दरूपता तो अद्वैतमत में स्वीकृत की गयी है

---

१. अस्मिञ्छास्त्रे यत्र यत्र ज्ञानस्यमोक्षसाधनत्वमुच्यते तत्र तत्र ज्ञानपदेन भक्तिरीर्यते, ज्ञानस्य भक्तिभागत्वात् (न्या० सु०, पृ० ६०४) ।

किन्तु वह आनन्द मूलस्वरूपावस्थान माना है, भोग्य सुख नहीं । जयतीर्थ को अभिमत मुक्तिगत आनन्द भोग्य सुख है किन्तु उसके साथ दुःख का लेश नहीं है । उस भोग्यसुख के क्षय की शङ्का करना समीचीन नहीं है,क्योंकि वह स्वरूप सुख है, सांसारिक काम्यादि कर्मों का फल नहीं है ।

जयतीर्थ ने साधन के तारतम्य से मोक्षसुख में भी तारतम्य प्रतिपादित किया है,तथा भगवत्साक्षात्कार प्राप्त हो जाने के पश्चात् अनुष्ठित शुभकर्मों से मोक्ष हो जाने पर प्राप्य सुख में वृद्धि भी स्वीकृत की है । यहाँ पर यह शङ्का अवश्य होती है कि कर्मों के फलस्वरूप आनन्द में वृद्धि होती है तो वह आनन्द अनित्य या विनाशी होगा,क्योंकि कर्मों का फल भोगने से क्षीण होता है । इस प्रकार मोक्ष में भी अनित्यता का प्रसंग होगा । किन्तु इसका समाधान इस प्रकार हो सकता है कि वैराग्यादिपूर्वक भगवत्-प्रसाद के साधनों का अनुष्ठान करने से भगवत्साक्षात्कार प्राप्त हो जाने से मोक्ष-प्राप्ति तो निश्चित हो जाती है । उस स्थिति में मुक्तिगत सुख भी निश्चित हो जाता है,किन्तु प्रारब्ध कर्मों के फल के भोग के लिए शरीर उसके बाद भी कुछ काल तक अवस्थित रहता है । उस मुक्त अवस्था में पुरुष रागादि युक्त होकर काम्यादि कर्म तो करेगा नहीं, वह ईश्वर की प्रसन्नता के लिये ही भगवदर्पण बुद्धि से करेगा । और ईश्वर की अधिक प्रसन्नता से प्राप्त होने वाले आनन्द को क्षयिष्णु मानना ठीक नहीं है । शास्त्र श्रवण-मननादि का फल क्षीण होने वाला नहीं माना जाता है । प्रारब्ध कर्मों का फल-भोग हो जाने पर देहपात के अनन्तर जीव को जो आनन्द प्राप्त हो जाता है, उसके पश्चात् उसमें वृद्धि क्षय आदि नहीं होते हैं ।

अतः साधन के अनुष्ठान से मुक्तिगत आनन्द में वृद्धि की कल्पना अनुपयुक्त नहीं है । मुक्तों के आनन्द के तारतम्य का सम्यक् समाधान आचार्य ने स्वयं ही कर दिया है । आनन्द के वैषम्य से ईर्ष्यादि दोषों की संभावना नहीं की जा सकती है क्योंकि दोषरहित होने पर ही भगवत्साक्षात्कार प्राप्त होता है, भगवत्-साक्षात्कार के पश्चात् दोषों की उत्पत्ति की कल्पना समीचीन नहीं है ।

सप्तम अध्याय

-0-

मोक्ष स्वरूप-विचार

सप्तम अध्याय

-0-

मोक्षस्वरूप-विचार

माध्वमताभिमत मोक्ष का साधन और उसका स्वरूप अत्यन्त सरल, स्वाभाविक और तर्कसंगत है। ईश्वरभक्ति और ईश्वर-प्रसाद ही मोक्ष का साधन है, यह पहले ही बताया जा चुका है। द्वैताभिमत मोक्ष नित्यप्राप्त, निर्गुण परब्रह्मभाव नहीं किन्तु प्राप्य और परमानन्द है। वैराग्यादि से जब भगवत्-प्रसाद प्राप्त हो जाता है, उसके पश्चात् प्रारब्ध कर्मों का पूर्णत: क्षय हो जाने पर ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है। यह भी बताया जा चुका है कि भगवत्-साक्षात्कार हो जाने पर उनके प्रसाद से अनारब्ध कर्मों का तो पूर्णत: क्षय हो जाता है किन्तु प्रारब्ध कर्मों का क्षय फलभोग के बिना नहीं होता तथापि उनके फलभोग में भी कुछ ह्रास हो जाता है[1] और वे सामान्य व्यक्तियों के कर्मफल की अपेक्षा शीघ्र निवर्त्य होते हैं।

मोक्ष फल को जयतीर्थ ने चार सोपानों में प्राप्तव्य बताया है —(१) कर्मक्षय, (२) उत्क्रान्ति, (३) स्वयोग्य मार्गगमन और (४) सुखप्राप्ति। इस स्थिति में ही जीव के अनिष्ट की आत्यन्तिक निवृत्ति और इष्ट की प्राप्ति हो जाती है। कर्मक्षयादि निश्चित क्रम से होते हैं। प्रथमत: भगवत्-साक्षात्कार के अनन्तर ही कर्मों का क्षय होता है। कर्मों का क्षय हो जाने पर उत्क्रान्ति होती है। उत्क्रान्ति का अर्थ है चरम देहनाश। तृतीय सोपान में उत्क्रान्त जीव स्वयोग्य मार्ग से जाकर ब्रह्म को प्राप्त करता है, तदनन्तर वहाँ के भोगों या सुखों को प्राप्त करता है। मोक्ष केवल दु:खनाश ही नहीं अपितु उसमें सुख भी होता है[2]।

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० ६२३

२. द्रष्टव्य वही, पृ० ५४०

यहाँ पर यह शङ्का हो सकती है कि दुःख और सुख परस्पर मिले हुए होते हैं, यदि मोक्ष में सुख है तो दुःख भी अवश्य होगा, भोग सर्वथा दुःखरहित नहीं हो सकते हैं। इसका समाधान जयतीर्थ ने यह दिया है कि सांसारिक भोग अवश्य दुःखमिश्रित होते हैं, किन्तु मोक्षसुख में यह नियम नहीं है। मोक्ष में विशुद्ध सुखों की प्राप्ति होती है क्योंकि वह भगवत्-प्रसाद से प्राप्त होता है। भगवत् प्रसाद के फल में अनिष्ट की कल्पना नहीं की जा सकती है।

बौद्धादिकों को अभिमत मोक्ष के स्वरूप की आलोचना

बौद्धमत में चार सम्प्रदाय हैं -- (१) शून्यवादी, (२) विज्ञानवादी, (३) सौत्रान्तिक और (४) वैभाषिक। इन सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न प्रकार से संसार और मोक्षादि की कल्पना की गयी है। इन सम्प्रदायों में शून्यवादी और विज्ञानवादी प्रमुख हैं।

शून्यवादाभिमत मोक्ष —

शून्यवादि-मत के अनुसार शून्य ही तत्त्व है, वही मोक्ष का स्वरूप है। शून्य ही स्वतः निर्विशेष एकमात्र तत्त्व है। वह परम सूक्ष्म और मन और वाणी से अगोचर एवं स्वप्रकाश है। उस शून्य में आवरण विक्षेपादि अनेक शक्तियों वाली मूलसंवृति से, कर्तृत्व भोक्तृत्वशक्ति वाले अहंकार की उपाधिवश कुछ स्थूलता उत्पन्न होती है, तब सद्वितीयत्व के कारण सविशेष स्थूलता सम्पन्न होती है। इस स्थिति में वह मन वचनादि का गोचर होकर विधिनिषेधों का गोचर और सलेप तथा रागादि दोषों से संसृष्ट होता है। तब 'ममकार' आदि के अभिमान से युक्त होने पर उसमें स्थूलतमत्व होता है। इस प्रकार संवृति और उसके कार्य होने से संवृति संज्ञक अहंकारादि से संवलित शून्य ही संसार है। और भावना के प्रकर्ष से संवृति

के ध्वस्त हो जाने और उसके कार्यप्रवाह के विलीन हो जाने पर उपलक्षित शून्य ही मोक्ष है। यद्यपि शून्य ही संसार और वही मोक्ष है तथापि उनमें भेद यह है कि संवृति की स्थिति से संसार और उसके ध्वस्त होने पर मोक्ष है। यह एकात्मवादी शून्यवादियों का मत है।

अनेकात्मवादी शून्यवादियों के अनुसार संवृति नाना रूपों वाली और आत्मा भी अनेक हैं। अनेक रूपों वाली संवृति से अवच्छिन्न महा शून्य ही नाना पुद्गल संज्ञक होता है, स्वभावत: तो वह महाशून्य एक ही है। शून्यैकरसता का ज्ञान ही मोक्ष है। उन अनेक आत्माओं में से जिसको शून्यैकरसता का ज्ञान हो जाता है, शून्य की अद्वितीयता के ज्ञान से उसकी मूलसंवृति व्यावृत्त हो जाती है और अन्य संवृति नष्ट हो जाती है। वह पुद्गल कर्तृत्वादिरूप से निर्मुक्त होकर महाशून्यता या मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जो आत्मा संवृति से अवच्छिन्न रहता है वह पुद्गल भाव से दु:खों का परमार्थ बुद्धि से ही अनुभव करता रहता है।

मायावाद और शून्यवाद की समानता —

मायावादियों के मोक्ष या ब्रह्म और शून्यवादियों के मोक्ष या शून्य में पूर्ण साम्य है। शून्यवादियों की ही तरह मायावादियों में भी एक जीवत्ववादी और अनेक जीववादी दो सम्प्रदाय हैं। शून्यवादियों का शून्य ही मायावादियों का ब्रह्म है। उनकी अभिमत संवृति ही इनकी माया है क्योंकि उन दोनों के ही अनिर्वाच्यरूप आवरण विक्षेपादि कार्य एक ही हैं। शून्यवादी शून्य को और मायावादी ब्रह्म को समान रूप से निर्विशेष और एकमात्र तत्त्व मानते हैं। इनमें केवल शब्दों का भेद है, वस्तुत: वैधर्म्य नहीं है।

यद्यपि मायावादी `विज्ञानमानन्दं ब्रह्म`[१] `सत्यं ज्ञान-

---

१. बृ० उ० ३।९।२८

मनन्तं ब्रह्म[1] इत्यादि को ब्रह्म का लक्षण मानते हैं, किन्तु उनका यह मत निरर्थक ही है । इस मत में दो विकल्प संभव हैं — (१) सत्यादि या तो ब्रह्म का स्वरूप हैं, (२) या अन्य कुछ । प्रथम विकल्प मानने पर ब्रह्म और सत्यज्ञानादि में लक्ष्यलक्षणभाव नहीं हो सकेगा तथा जब ब्रह्म ही एकमात्र है तो सत्य ज्ञानादि अनेक पदों की व्यर्थता प्राप्त होगी । द्वितीय विकल्प अस्वीकरणीय है क्योंकि ब्रह्म को अखण्ड मानते हैं । ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कुछ मानना मायावादियों को इष्ट नहीं है ।

हम द्वैतवादी सत्यत्वादि को ब्रह्म का स्वरूप और उसका लक्षण भी मानते हैं,किन्तु हम ब्रह्म में विशेष स्वीकृत करते हैं, अद्वैत मत में ब्रह्म को निर्विशेष मानने के कारण श्रुत्यर्थ का निर्वाह नहीं हो सकता है । इसके अतिरिक्त शून्य और ब्रह्म को निर्विशेष मानने के कारण उनमें परस्पर विशेष का कथन ही व्याहत है ।

शून्यवाद और मायावाद में एक अन्तर और प्रतीत होता है, शून्यवादी वेदों के प्रामाण्य को स्वीकृत नहीं करते हैं,जबकि मायावादी वेदों के प्रामाण्य को मानते हुए उनके स्वत: प्रामाण्य को भी स्वीकृत करते हैं । किन्तु यथार्थत: वे वेद-प्रामाण्य का अपलाप ही करते हैं, जैसा कि वे मानते हैं -- 'अविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च'[2] । इस प्रकार वे वेद को अतत्त्वावेदक मानते हैं । और अतत्त्वावेदक अर्थात् परमार्थ का बोध न कराने वाला प्रमाण नहीं हो सकता है, उसके स्वत: प्रामाण्य का तो प्रश्न ही नहीं है ।

---

१. तै० उ० २।१।१

२. शंकर ब्र० सू० सम्बन्ध भाष्य १।१।१

'अयथार्थ का बोधक होने पर भी जिसका विषय ब्रह्मज्ञान से पहले ही बाधित हो जाय वह अप्रमाण होता है, किन्तु जिसका विषय ब्रह्मज्ञान से ही बाधित हो वह अतत्त्वावेदक प्रमाण होता है। चूंकि वेद का विषय ब्रह्मज्ञान से ही बाधित होता है, अत: उसका प्रामाण्य है' -- ऐसा पूर्वपक्षी का कहना ठीक नहीं है। उक्त पूर्वपक्ष का मत मानने का यह अर्थ होगा कि जो अतत्त्वावेदक अधिक काल तक भ्रान्तिकारी हो वह प्रमाण होगा। इस मत में दो विकल्प हो सकते हैं -- (१) या तो इसे लोकव्यवहार के अनुसार माना जाय, (२) या स्वसंकेत मात्र से। इनमें प्रथम विकल्प अस्वीकरणीय है। जब अल्पकाल तक रज्जुसर्पादि की लघुभ्रान्ति उत्पन्न करने वाला अतत्त्वावेदक अनर्थकारी और अप्रमाण होता है, तो अधिक काल तक भ्रान्ति रखने वाला अतत्त्वावेदक महामोहप्रद होने से प्रमाण कैसे हो सकता है ? द्वितीय विकल्प मानने पर आकाश में नीलमणि की नीलता और छत्राकारता को भी प्रमाण मानना पड़ेगा। वेद को अतत्त्वावेदक तो शून्यवादी भी अङ्गीकृत करते हैं[१]।

यदि मायावादी कहे कि 'हम सम्पूर्ण वेद को अतत्त्वावेदक नहीं कहते, किन्तु केवल विधि प्रतिषेध वाले भाग को ही कहते हैं। अद्वितीय तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले 'तत्त्वमसि'[२] इत्यादि महावाक्यों और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'[३] इत्यादि अवान्तर वाक्यों का तत्त्वावेदकत्व (यथार्थबोधकत्व) तो स्वीकृत ही करते हैं, किन्तु शून्यवादी तो इनका भी प्रामाण्य स्वीकृत नहीं करते। अत: मायावाद और शून्यवाद में साम्य नहीं है' -- तो

---

१. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० ६३१

२. छा० उ० ६।८।७

३. तै० उ० २।१।१

ठीक नहीं है । शून्यवादी भी शून्य का सत्यत्व स्वीकृत करते हैं, वे तत्त्व को निर्विशेषत्व के अभिप्राय से शून्य कहते हैं, असत्त्व के अभिप्राय से नहीं । मायावादियों की तरह आनन्दता भी शून्यवादी स्वीकृत करते हैं । उन दोनों की आनन्दता दु:खविरोधित्वमात्र है, धर्मरूप कुछ नहीं है । दोनों ही ज्ञान को जाड्य का विरोधी मानते हैं ।

इस प्रकार व्यावर्तक के अभाव में ब्रह्म और शून्य में भेद नहीं किया जा सकता । ब्रह्म और शून्य दोनों ही निर्विशेष होते हुए एक ही हैं, मायावादियों ने केवल नाम में भेद कर रखा है ।

शून्यवादिमत का दूषण—

शून्यवादिमत के अनुसार आत्मा का अभाव या विनाश ही मोक्ष निश्चित होता है । यह आत्मविनाश-लक्षण मोक्ष या तो (१) आत्मा का फल है या (२) अनात्मा का । इनमें से प्रथम विकल्प सम्भव नहीं है, क्योंकि आत्मा का तो अभाव है । फलवान् के अभाव में फल उपपन्न नहीं होता है । धर्मी के अभाव में धर्मादि नहीं देखे जाते हैं । द्वितीय विकल्प भी नहीं माना जा सकता है,क्योंकि आत्मा के नाश होने पर अनात्म पदार्थों का भी अभाव हो जायेगा । यदि अनात्म का भाव भी मानें तो आत्मनाश उसका पुरुषार्थ नहीं होगा, और अनात्म का उससे कोई उपकार भी नहीं होगा ।

शून्य पुरुषार्थ नहीं —

आत्मनाशलक्षण मोक्ष को पुरुषार्थ ही नहीं माना जा सकता है । इष्ट की उत्कर्ष परम्परा पर्यन्त सब कुछ आत्मा के लिये होने से ही इष्ट होता है । आत्मा ही इष्टतम होता है । आत्मा के लिये

सामान्य रूप से इष्ट धनादि के विनाश की भी कोई कामना नहीं करता है, फिर इष्टतम आत्मा के विनाश की कामना कोई कैसे कर सकता है ?

मोक्ष को दो दृष्टियों से पुरुषार्थ माना जा सकता है— (१) इष्टप्राप्ति रूप से, (२) अनिष्टनिवृत्ति रूप से। शून्यवाद में प्रथम विकल्प तो संगत हो नहीं हो सकता है। आत्मा ही सबसे इष्टतम वस्तु है, वही अन्य सभी इष्टों का आश्रय है। यदि वह आत्मा ही न रहेगा तो यह मोक्ष किसके लिए पुरुषार्थ होगा ? द्वितीय विकल्प भी असंगत है। अनिष्ट निवृत्ति भी तभी पुरुषार्थ हो सकती है जब वह इष्ट का विघात न करे ; यदि इष्ट का विघात भी करे तो लघु इष्ट के विघात के साथ महान् अनिष्ट का विघात करे, क्योंकि लोक में ऐसा ही देखा जाता है। कोई भी प्रेक्षावान् व्यक्ति महान् इष्ट का विनाश करके अल्प अनिष्ट की निवृत्ति करता हुआ नहीं देखा जाता है, और आत्मा सबसे इष्टतम है, अत: उसका विघात करके होने वाली अनिष्ट निवृत्ति पुरुषार्थ कैसे हो सकती है ?

'रोगादि से पीडित हुए या अन्य मानसिक दु:ख से दु:खी हुए लोग गले में फाँसी आदि लगाकर आत्मविनाश कर लेते हैं'—ऐसा कहना ठीक नहीं है। उनकी प्रवृत्ति रोगादि के आयतन भूत देह का परित्याग करके आत्मा को निर्दु:ख करने के लिये होती है। सभी लोग निर्दु:ख होकर रहने की कामना करते हैं; कोई भी आत्मविनाश की कामना नहीं करता है। यदि कहा जाय कि 'शरीर और आत्मा के विवेकज्ञान से रहित लोग आत्म-विनाश के लिये ही प्रयत्न करते हैं'— तो ठीक नहीं है। अप्रेक्षावान् होने के कारण उनका उदाहरण नहीं दिया जा सकता है[१]।

---

१. द्रष्टव्य न्या० सू०,पृ० ६३२

'दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति अवश्य ही सबको इष्ट होगी, और वह दु:ख निवृत्ति, कारण के निवृत्त होने पर ही होगी। आत्मा ही दु:ख का कारण है, क्योंकि वही अधर्म के उपार्जन का आधार है, अत: आत्मनाश से शून्यभाव की प्राप्ति सबको इष्ट होगी'।

पूर्वपक्ष का यह कथन भी अनुपयुक्त है। आत्मा ही दु:ख का कारण नहीं अपितु शरीर, इन्द्रिय, विषय और वेदनादि भी हैं क्योंकि जागृत अवस्था में ही दु:खादि होते हैं, सुषुप्ति में इनका अभाव रहता है। यदि आत्मा ही दु:ख का कारण होता तो सुषुप्ति में भी दु:ख होता। दु:ख कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं, देहादि की उत्पत्ति भी कर्मफल से होती है। अत: ज्ञान और भोग से कर्मों के क्षीण हो जाने पर निर्बीज देहादि की उत्पत्ति नहीं होगी। देहादि के न होने से दु:ख की उत्पत्ति भी नहीं होगी। इसलिये आत्मनाश की कल्पना नहीं करनी चाहिए।

आत्मा से व्यतिरिक्त, दु:ख के कारणभूत देहादि की ही निवृत्ति, किन्तु आत्मा का स्वरूप से अवस्थान ही मोक्ष है, ऐसा पक्ष यदि न स्वीकृत किया जाय अर्थात् मोक्ष में आत्म की भी शून्यतापत्ति मानी जाय तो घटशून्यता भी देवदत्त का मोक्ष होगी। और इस प्रकार मोक्ष के साधनों का अनुष्ठान व्यर्थ होगा, क्योंकि घटशून्यता के लिए पारिव्राज्यादि कारणों की अपेक्षा नहीं होती है। यहां पर शून्यता शब्द से अभाव का कथन नहीं है, जिससे घट शून्यता और आत्मशून्यता में विशेष माना जा सके। यहां पर शून्यता का अर्थ है भाव पदार्थ का प्रतियोगित्व या तत्त्वत: भाव का न होना। अत: यहां घटशून्यता और आत्मशून्यता परस्पर व्यावर्तक नहीं है; अश्वशृङ्ग और शशशृङ्ग व्यावर्तकधर्मवान् नहीं होते हैं। आत्मशून्यता और घटशून्यता केवल व्यवहार के लिए कल्पित विशेष हैं।

'निर्विशेष शून्यता ही मोक्ष है, उसमें तल् प्रत्यय भी व्यवहार के लिये ही ग्रहण किया गया, वह किसी धर्म का प्रतिपादन नहीं करता, किन्तु घटशून्यता तो घट से विशेषित होने के कारण सविशेष है, इसलिये अति प्रसंग नहीं होगा।'

पूर्वपक्षी का उक्त कथन भी समीचीन नहीं है। उनकी विवक्षित शून्यता भी आत्मशून्यता है, और वह आत्मशब्द से विशेषित होने से सविशेष होगी और इस प्रकार उसके अमोक्षत्व का प्रसंग होगा।

यदि पूर्वपक्षी कहें कि 'इस समय निरूपण करते समय व्यवहार के लिये कल्पित विशेष से ही शून्यभाव सविशेष जैसा लगता है, निरूपण न किये जाते समय तो स्वरूपत: निर्विशेष ही है' — तो भी ठीक नहीं है। ऐसा मानने पर तो यह समान रूप से कहा जा सकता है कि 'घटशून्यभाव भी निरूपण के समय ही सविशेष होता है', निरूपण न करते समय तो निर्विशेष ही है'।

मायावाद का दूषण — मायावादियों का अभिमत मोक्ष भी उक्त प्रकार से ही दोषयुक्त है। मायावादियों के अनुसार वे मोक्ष को आत्मनाश-लक्षण नहीं कहते हैं, जिससे इष्टनाश होने से उसे पुरुषार्थ न माना जा सके और न शून्यतापत्ति रूप कहते हैं जिससे घटशून्यता भी मोक्ष होने लगे, अपितु जीवभाव का अपगम हो जाने से ब्रह्मभाव का आविर्भाव ही मोक्ष है। ब्रह्म परमानन्द स्वरूप है, इसलिये वह अवश्य ही पुरुषार्थ होगा।

यहाँ प्रश्न उठता है कि जीवभाव क्या है? और ब्रह्मभाव क्या है? यदि अविद्या, काम और कर्मादि से बद्ध होना ही जीवभाव और परमानन्दभोक्तृत्व ही ब्रह्मभाव हो तो उक्त मोक्ष को पुरुषार्थ माना जा

सकता है। किन्तु मायावादी ऐसा नहीं मानते हैं। उनके अनुसार कर्तृत्व-भोक्तृत्व शक्ति से युक्त साकार, `अहम्` रूप से सादिसिद्ध और देहादि से व्यतिरिक्त रूप ही जीवभाव है, और उसी का अपगम ही मोक्ष है। और यही जीवरूप ही इष्ट अनुभूत किया जाता है। अतः शून्यवाद की तरह इष्टविनाश-रूप इसमें भी है। आनन्दरूपता के उपपादन के लिए मायावादी भी उक्त जीवरूप को परमप्रेमास्पद कहते हैं। `मा न भूवं भूयासम्` इस प्रकार जो लोगों को कामना होती है, वह उक्त रूप से भिन्न किसी निराकार रूप के लिए नहीं होती है। `संवलित रूप में निराकार रूप की भी कामना होती है`,-- ऐसा नहीं माना जा सकता है, क्योंकि निराकार सर्वथा बुद्धिस्थ नहीं होता है। इसके अतिरिक्त अन्य का अन्य में निरुपाधिक प्रेम सम्भव नहीं है, इसलिए निराकार रूप में जीव का प्रेम नहीं हो सकता है। इस प्रकार उक्त जीवस्वरूप ही इष्टतम है। `यदि ऐसा है, तो द्वैत मत का अभिमत मोक्ष भी पुरुषार्थ नहीं होगा, क्योंकि देहादिसहितत्व भी इष्ट होता है, और द्वैताभिमत मोक्ष में देह का विनाश स्वीकृत किया गया है`-- यह कथन उपयुक्त नहीं है। परम इष्ट के लाभ के लिये अल्प इष्ट का नाश पुरुषार्थ माना जा सकता है।

इस प्रकार ब्रह्मभाव शून्यभाव से भिन्न नहीं है, यह उपपन्न होता है। ब्रह्म की आनन्दरूपता मायावादियों का कथन-मात्र है। इसके अतिरिक्त आनन्दरूपता को भी पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता है। `आनन्दो भूयासम्` अर्थात् मैं आनन्द हो जाऊं, ऐसी कामना कोई नहीं करता है अपितु `आनन्द का अनुभव करूं`, यह कामना करता है। मायावादियों को `अनुभाव्यत्व` अभीष्ट नहीं है, क्योंकि उनके मत में अनुभव करने वाले किसी अन्य का अभाव है। एक को ही कर्म और कर्ता दोनों नहीं माना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त एक विशेष बात यह भी है कि माया-वादियों ने आनन्दत्व को पूर्वसिद्ध माना है, इसलिए वह पुरुष के लिये अर्थनीय

यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'वह आनन्दस्वरूप पूर्वसिद्ध होने पर भी अविद्या से आवृत होने के कारण प्रकाशित नहीं होता, अविद्या का आवरण हट जाने पर प्रकाशित होता है, इसलिये उसका पुरुषार्थत्व उपपन्न होता है' -- तो ठीक नहीं है । उनके मत में तो पहले ही स्वरूप को स्वयं-प्रकाश स्वीकृत किया गया है, उस स्वयं-प्रकाश-स्वरूप आनन्द की अप्रकाशता उपपन्न नहीं होती है । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि प्रकाशमान होता हुआ भी वह विशद रूप से प्रकाशित नहीं होता । क्योंकि वैशद्य और अवैशद्य तो विशेष-विषयक होते हैं, जो विशेषों के साथ प्रकाशित हो वह विशद कहा जाता है, और जो साधारण धर्मों के साथ प्रकाशित हो वह अविशद कहा जाता है, आपका मोक्ष-स्वरूप तो निर्विशेष है ।

उक्त मोक्ष के स्वरूप में प्रमाणाभाव है --

मायावादियों और शून्यवादियों को अभिमत मोक्ष के स्वरूप में कोई प्रमाण नहीं है । इस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है,क्योंकि यह प्रत्यक्ष का विषय ही नहीं है । आगम भी प्रमाण नहीं है,क्योंकि शून्यवादी वेदादि आगम को प्रमाणरूप से स्वीकृत नहीं करते हैं और उनके आगम को हम प्रमाण नहीं मानते हैं । इस विषय में मायावादि मत की विवेचना आगे की जायेगी । इसके पूर्व भी यह बताया ही जा चुका है कि मायावादी वेद को प्रमाण मानते हुए भी उसे अतत्त्वावेदक कहते हैं ।

इसमें अनुमान प्रमाण भी नहीं है । 'आत्मशून्यता दुःखादि निवृत्ति में उपयोगी होने से पुरुषार्थ है, जैसे देहादिशून्यता', इस प्रकार का अनुमान अयुक्त है । इसमें प्रतिपक्ष है 'विमत शून्यभाव या ब्रह्मभाव मोक्ष नहीं है, क्योंकि वह अदेह है, जैसे घट शून्यता' ।

मायावादी का कथन है कि इस विषय में सत्प्रतिपक्षरूप

अनुमान प्रमाण नहीं है, विदेहावस्था ही मोक्ष है, ऐसा श्रुतियों में प्रतिपादित होने से इसमें कालातीतत्व है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मभाव का आविर्भाव ही मोक्ष है, ऐसा श्रुति में ही कथित होने से यहाँ अनुमान का प्रयोजन भी नहीं है।

उक्त कथन उपयुक्त नहीं है। मायावादि मत में श्रुति का अर्थतः अप्रामाण्य निश्चित होता है, यह स्पष्ट किया जा चुका है। तथा सर्व-धर्मों से रहित ब्रह्मभाव के विषय में शास्त्र से कुछ भी ज्ञात नहीं होता है, अतः उनका वेदान्त भाग को तत्त्वावेदक मानना भी व्यर्थ ही है।

इसके अतिरिक्त श्रुति कहीं भी मोक्ष में अदेहत्व का कथन नहीं करती है। `अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः`[1] इत्यादि श्रुति में प्राकृत शरीरराहित्य का ही कथन है, सर्वथा अदेहत्व का नहीं। यदि मायावादी शङ्का करें कि `अशरीरत्व बताने वाली श्रुति का यह अर्थसङ्कोच क्यों करते हैं? इसका उत्तर यह है कि मोक्ष की स्थिति में श्रुति आत्मा के सदेहत्व का कथन करती है, `स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा-ज्ञातिभिर्वा`[2], यह श्रुति मोक्ष में स्त्री आदि भोग का कथन करती है, और वे भोग अशरीर को सम्भव नहीं है, अतः उक्त अर्थसङ्कोच किया जाता है।

विज्ञानवाद-दूषण —

विज्ञानवाद में अभिमत मोक्ष स्वरूप भी उक्त प्रकार से ही हेय है। यद्यपि विज्ञानवादी दार्शनिक विज्ञान को तत्त्व मानते हैं किन्तु प्रकृत-मोक्षस्वरूप तो उपर्युक्त मतों के समान ही है, जीवभाव का त्याग कर अद्वितीय विज्ञानत्व की आपत्ति ही मुक्ति है, ऐसा विज्ञानवादियों का मत है।

---

१. छा० उ० ८।१२।१

२. वही ८।१२।३

मोक्ष में काल का अभाव नहीं है—

उक्त मतों के अनुसार मोक्षकाल अद्वितीय ज्ञानवान् होता है, किन्तु अनुमान से इसके विपरीत निश्चय होता है। मोक्षकाल अद्वितीय-ज्ञानवान् नहीं हो सकता है, जैसे वर्तमान् काल। यदि कहा जाय कि ज्ञान के अतिरिक्त सब कुछ कल्पित है, अतः वर्तमानकाल भी केवल ज्ञानवान् होगा'-तब तो मुक्ति और संसार में कोई भेद नहीं होगा; इनमें जो विशेष अङ्गीकृत किया जाता है उसका अभाव ही सिद्ध होगा[1]।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, ऐसा मानने पर काल भी नहीं है, अतः आश्रय के न होने से उक्त अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होगी'- तो असंगति होगी। 'कब' काल नहीं है?' ऐसा प्रश्न किये जाने पर पूर्वपक्षी क्या उत्तर देगा? यदि वह उत्तर दे कि 'मोक्षावस्था में काल नहीं है', तो यह पूर्वोक्त अनुमान का ही पक्ष हो जायगा, अर्थात् उक्त उत्तर में उस समय काल के न होने का ज्ञान होने से मोक्षावस्था केवल ज्ञानवती नहीं है, यह प्रतिज्ञा समर्थित होगी। उक्त अनुमान में अवस्थात्व हेतु और संसारावस्था दृष्टान्त होने से अदोष है।

यदि पूर्वपक्षी मोक्षावस्था को कालाभाव का अधिकरण माने तो 'मोक्षावस्था कब होती है?' ऐसा प्रश्न किये जाने पर वह उत्तर देगा 'भावना के परिपाक के उत्तर काल में'। और इस प्रकार अवस्था के अधिकरण रूप से काल का ही कथन होगा। अतः काल के सर्वथा अपरिहार्य होने से काल का अभाव नहीं हो सकता है[2]।

---

१. द्रष्टव्य न्या० मु०, पृ० ६३५

२. द्रष्टव्य वही, पृ० ६३६

'काल नहीं है' इस प्रकार सामान्य निषेध किये जाने पर काल का स्वरूप ही निषिद्ध हो जायेगा, और ऐसी स्थिति में 'काल' को विषय करने वाली 'कालगा' प्रमा का साक्षि विरोध होगा। 'मायावादी और शून्यवादी' के मत में अद्वितीय ब्रह्म या अद्वितीय शून्य का अवस्थान ही मोक्ष है, किन्तु काल के सद्भाव में अद्वैत उपपन्न ही नहीं होता और काल का भी अभाव मानने पर साक्षि विरोध होता है।

वैभाषिक और सौत्रान्तिक मतों में अभिमत मोक्षस्वरूप भी अप्रामाणिक और दोषयुक्त है।

सांख्यादि- अभिमत मोक्षस्वरूप की आलोचना

सांख्यादि के अनुसार मोक्ष में सुख की अनुपपत्ति--

सांख्य नैयायिक और वैशेषिक लोग मोक्ष को सर्वथा सुख और दुःख से रहित मानते हैं। उनके अनुसार मुक्ति में इच्छा, द्वेष, प्रयत्नादि का भी आत्यन्तिक क्षय हो जाता है। मुक्ति में अनादि सुख उपपन्न नहीं है, क्योंकि यदि अनादि है तो संसार में भी उसके प्रतिभास का प्रसंग होगा। 'अनादि सुख अव्यक्त होने से संसार में प्रतिभासित नहीं होता, मुक्ति में व्यक्त होने से प्रतिभासित होता है' -- ऐसा कहना ठीक नहीं है। प्रतिभास का अभाव ही अव्यक्ति और प्रतिभास ही व्यक्ति है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि 'आवृत होने के कारण नहीं प्रतीत होता है', सुख अमूर्त है, अतः उसमें आवरण उपपन्न नहीं है। यदि सुख की ही तरह उसकी प्रतीति भी अनादि है तो आवरण का कुछ कृत्य ही नहीं होगा। इसके अतिरिक्त सुख और उसकी प्रतीति की अनादिता में कोई प्रमाण भी नहीं है।

मोक्ष में सुख और उसकी प्रतीति की उत्पत्ति भी संभव

नहीं है। शरीर के रहने पर उस पर आश्रित इन्द्रियों का सद्भाव होता है, इन्द्रियों से अर्थज्ञान और तब पूर्वानुभूत पदार्थों के सारूप्य से उनके इष्टानिष्ट साधनत्व का अनुमान होता है, उस अनुमान से इष्ट की इच्छा और अनिष्ट के प्रति द्वेष होता है। इच्छा और द्वेष से प्रयत्न और उससे इष्टसाधन का उपादान एवम् अनिष्टसाधन का हान होता है। तब सुख की उत्पत्ति और उसके अनन्तर प्रतीति होती है। यह कारण प्रवाह मुक्ति में नहीं होता है, मुक्ति में भी उसका सद्भाव होने पर दु:ख का भी प्रसंग होने से मुक्तत्व का व्याघात होगा। इसलिये मोक्ष सुखरहित ही है और दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति होने से यह पुरुषार्थ है।

यदि कहा जाय कि दु:ख का अभाव होने पर ही सुख होता है,इसलिये सुख-प्राप्ति के लिए ही दु:खाभाव की कामना की जाती है,तो इसका विपर्यय भी कहा जा सकता है अर्थात् भोजनादि सुख होने पर ही बुभुक्षादि दु:ख की निवृत्ति होती है, अत: दु:ख की निवृत्ति के लिये ही भोजनादि सुख की कामना की जाती है। इस प्रकार यद्यपि दु:ख के अभाव में सुख और सुख होने पर दु:ख का अभाव नियत है, तथापि पुरुषार्थ परस्पर इनसे निरपेक्ष ही है।

निराकरण —

मुक्ति में सुखराहित्य का मत समीचीन नहीं है। श्रुतियों में मोक्ष में सुख का भोग बताया गया है। `अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत:`[1] में दु:ख की तरह ही सुख की हानि तथा `न प्रेत्य संज्ञास्ति`[2] में

---

१. छा० उ० ८।१२।१

२. बृ० उ० ४।५।१३

ज्ञान का अभाव बतया गया है, किन्तु `अशरीरम्` इत्यादि श्रुति में प्राकृत जो अन्त:करण-परिणति-रूप प्रिय है उसी की हानि `प्रिय का अस्पर्श` रूप से कथित है सर्वथा सुख का अभाव नहीं। यदि पूर्वपक्षी कहे कि `इस प्रकार अप्रिय का स्पर्श भी विभागत: व्याख्यात होगा अर्थात् मोक्ष में दु:ख का भी सर्वथा अभाव नहीं होगा -- तो ठीक नहीं, क्योंकि मुमुक्षु को अप्रिय तो सम्पूर्णत: प्रतिकूल होता है। सर्वात्मना अनिष्ट की निवृत्ति मोक्ष है,यह सबको स्वीकृत है, दु:ख चाहे जैसा हो, अनिष्ट ही होता है, इसलिये सुख की तरह दु:ख का भी विभाग से व्याख्यान ^नहीं^ किया जा सकता है। अथवा जिस प्रकार से प्रिय में विभाग किया जाता है अर्थात् कि कोई प्रिय हानि इष्ट होती है और कोई अनिष्ट होती है, उसी प्रकार यदि अप्रिय में भी होता तो उसका भी विभाग से व्याख्यान किया जा सकता था। किन्तु ऐसा नहीं है। सम्पूर्ण रूप से प्रिय की हानि अनिष्ट होती है, और अनिष्ट की प्राप्ति होने पर मोक्ष का पुरुषार्थत्व व्याहत होगा। किन्तु इसके विपरीत सम्पूर्ण रूप से अप्रिय की हानि अनिष्ट नहीं होती है, अपितु सम्पूर्ण दु:ख के अनिष्ट होने से उसकी हानि इष्ट ही होती है।

यहां पर `सभी सुखों के इष्ट होने से प्राकृत सुख की हानि भी मोक्ष में अङ्गीकृत करना पड़ेगा` - ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि प्राकृत (सांसारिक) सुख तो दु:ख से मिश्रित होते हैं, इसलिए विषमिश्रित मधु की तरह अनिष्ट होते हैं,किन्तु अप्राकृत मोक्ष सुख दु:ख-मिश्रित नहीं होते हैं। यहाँ उक्त प्रकार से दु:ख में `प्राकृत` विशेषण का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। यदि अप्राकृत दु:ख भी होता तो उसकी व्यावृत्ति के लिये प्राकृत विशेषण का प्रयोग किया जा सकता था। `मुक्तियोग्य जीव को अप्राकृत दु:ख होता है`, इस विषय में प्रमाण नहीं है। किन्तु अप्राकृत सुख के विषय में श्रुति प्रमाण है। `ब्रह्मानन्द जीवस्य सहोज्ञानमनाकुलम्। स्वरूपाण्येव

व्यक्रयन्ते जीवस्य परमात्मिनो: ।।" इस श्रुति वाक्य में इस सत् जीव का प्रिय स्वरूप ही ज्ञात होता है, और स्वरूप अप्राकृत है। यदि मोक्ष में अप्रिय के अस्पर्श की तरह ही प्रिय का अस्पर्श भी होता तो कोई भी प्रेक्षावान् मोक्ष की कामना न करता, और न उसके लिए प्रयत्न करता। यद्यपि द्वेषवश परकीय सुख के हानि की इच्छा किसी को हो सकती है किन्तु कोई भी बुद्धिमान् अपने सुख की हानि नहीं चाहता है। वृत्तिरूप सुख में अनिष्ट का आधिक्य होने से उसके त्याग की इच्छा होना तो उचित है, किन्तु स्वरूप सुख तो निष्कण्टक है, इसलिये वह कदापि त्याज्य नहीं है, और उसका अस्तित्व श्रुतिसिद्ध है।

इसके अतिरिक्त मोक्षसुख या आत्मसुख को दु:ख से सम्पृक्त भी नहीं कहा जा सकता है। सुख दु:ख का सम्पृक्त होना कारण का ऐक्य होने से होता है। आत्मसुख का कोई कारण नहीं होता, अत: उसके दु:ख से सम्पृक्त होने की आशङ्का नहीं की जा सकती है। तथा आत्मसुख का हान भी अशक्य है। कोई बुद्धिमान् व्यक्ति अशक्य विषय में इच्छा और प्रयत्न नहीं कर सकता है।

इस प्रकार मोक्ष में प्रिय का अस्पर्श विशेषनिष्ठ ही व्याख्यात होगा।

मोक्ष में ज्ञान का अभाव नहीं है —

पूर्वपक्ष की ओर से यह कहा गया है कि 'न प्रेत्य संज्ञास्ति'[१] यह श्रुति मुक्ति में ज्ञान का अभाव बताती है। किन्तु उक्त व्याख्यान अनुपयुक्त है। उक्त श्रुति यह बताती है कि मुक्त पुरुष अमुक्त के द्वारा अज्ञेय

---

१. बृ० उ० ४।५।१३

होता है, न कि `मुक्त- नहीं जानता है`, `मरण के अनन्तर ज्ञान नहीं होता है`-- यह उक्त श्रुति का अर्थ है। यहाँ प्रकरणवशात् `प्रेत्य` का अर्थ है `मरण विशेष मोक्ष के अनन्तर`। प्रतिषिध्यमान मुक्तसम्बन्धी ज्ञान मुक्तपुरुषकर्तृक ही है, यह मानने का कोई नियामक नहीं है। अत: यहाँ तत्कर्मक ज्ञान का ही प्रतिषेध है, यह ज्ञात होता है।

पूर्वपक्षी शङ्का करते हैं कि यह साधारण वाक्य है, इसमें मुक्त-विषयक ज्ञान का प्रतिषेध है, तत्कर्तृक ज्ञान का नहीं, ऐसी कल्पना क्यों की गयी ? इसका समाधान यह है कि आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा है। अत: उसके धर्म ज्ञान की उच्छित्ति नहीं होती है। यहाँ नैयायिकों को अभिमत संख्या आदि धर्मों की अनुच्छित्ति भी मानी जा सकती है, किन्तु प्रकरण से `ज्ञान` धर्म ही गृहीत होता है।

प्रस्तुत श्रुति का उक्त अर्थ उसके प्रकरण से स्पष्ट होता है। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को उपदेश करते हैं -- `विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य: समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्ति।` अर्थात् विज्ञानमूर्ति यह आत्मा अनादि होता हुआ भी चरम जन्म में भूतात्मक शरीरोत्पत्तिनिमित्तक उत्पन्न व्यवहार का विषय होकर नित्य होता हुआ भी पुन: उन्हीं भूतों के नष्ट होने पर नष्ट होता है अर्थात् `नष्ट हुआ` इस व्यवहार का विषय बनता है; उस मरण के पश्चात् मुक्त का ज्ञान नहीं होता है (मुक्तस्य ज्ञानं नास्ति[1])। याज्ञवल्क्य के इस प्रकार के अस्पष्ट वाक्य को सुनकर मुक्त के ज्ञान की हानि की आशङ्का करके मैत्रेयी कहती है -- `मा भवान्मोहान्तमापिपदिति[2]` अर्थात् आपने जो यह

---

१. बृ० उ० ४ । ५ । १४

२. द्रष्टव्य न्याय० सु०, पृ० ६४०

कहा कि `मुझको न जानाति` - यह मोह पैदा करने वाला है। याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं —`न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीमि `(इस प्रकार ज्ञान के उपदेश के लिये प्रवृत्त हुआ मैं तुझ परम प्रिया से मोह का कथन नहीं करूंगा), ऐसी प्रतिज्ञा करके `अविनाशी वा अरेऽयमात्मा` कहकर आत्मस्वरूप का अनाश बताया है। और आत्मा ज्ञानरूप ही है, उसके विज्ञान का नाश ही उसका नाश है; और आत्मा का नाश नहीं होता अत: उसके ज्ञान का नाश भी नहीं होता, इस अभिप्राय से स्वरूप का अनाश कहा है।

स्वरूप का अनाश कहकर याज्ञवल्क्य ने आत्मा के अनुच्छिन्न धर्मों का कथन किया है। नैयायिक लोग ज्ञान सुखादि को आत्मा का स्वरूप नहीं मानते हैं, किन्तु उसके धर्म मानते हैं। उक्त प्रसंग में अनुच्छित्तिधर्मा आत्मा के संख्या आदि गुणों की अनुच्छित्ति मानने पर वाक्य असंगत होगा। `ज्ञान-विनाश का वचन मोह उत्पन्न करने वाला है `, इस मैत्रेयी के आक्षेप पर संख्या आदि के विनाश का कथन संगत नहीं होगा अत: यहां ज्ञान का ग्रहण किया गया है।

सांख्यादिमतों के अभिमत मोक्ष का अपुरुषार्थत्व—

मोक्ष में दु:खहानि की तरह सुखहानि को नहीं स्वीकृत किया जा सकता है। मोक्ष का दो प्रकार का ही प्रयोजन हो सकता है — (१) इष्ट प्राप्ति और (२) अनिष्ट निवृत्ति।

केवल दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति तो पुरुषार्थ है, किन्तु सांख्यादि की अभिमत मुक्ति में दु:ख की तरह सुख की भी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है, अत: वह पुरुषार्थ नहीं हो सकती है, क्योंकि उक्त मुक्ति में अनिष्ट निवृत्ति की आशा से प्रवृत्ति तो होगी किन्तु इष्ट निवृत्ति का भय रूप दु:ख

निवृत्त नहीं होगा। अयतीर्थ दु:ख की उपादेयता का प्रतिपादन नहीं करते, किन्तु यह बताते हैं कि व्यय और प्राप्ति समान होने पर प्रवृत्ति नहीं होगी। जैसा कहा गया है —

'असत्यानि दुरन्तानि समव्ययफलानि च।'

वस्तुत: तो उक्त मुक्तिस्वरूप में दु:ख की हानि की अपेक्षा सुख की हानि अधिक है। यद्यपि राजादि के राज्य की हानि हो जाने पर प्रजा का पालन और रक्षण रूप दु:ख निवृत्त हो जाता है, किन्तु उससे होने वाले सुख का ज्ञान उन्हें इष्ट नहीं होता है। दु:ख की अपेक्षा सांसारिक सुख का अल्पत्व भी निश्चित प्रमित नहीं है। मोक्ष शास्त्रों में जो सांसारिक सुख की निन्दा की गयी है वह सम्पूर्ण दु:खों से रहित मोक्षगत परमानन्द की अपेक्षा अल्पत्व के अभिप्राय से है। 'सोनानन्दाद्विमुक्त: आनन्दी भवति' इत्यादि श्रुतियाँ मुक्त के सुख का कथन करती हैं।

पूर्वपक्षियों ने मोक्ष में सुख के अभाव के उपपादन के लिये जो मुक्त के शरीरराहित्य का कथन किया है वह उपयुक्त नहीं है। मोक्ष सुख शरीरादि से सम्बन्धित नहीं है, वह तो स्वरूप सुख है।

द्वैत मत में मोक्ष की अवस्था में प्राप्त होने वाले ऐसे लोक को माना गया है कि जिसे पुराणों में विष्णुलोक के रूप में वर्णित किया गया है। मोक्ष प्राप्त होने पर जीव उसी लोक को जाकर परमानन्द का भोग करता है। उस लोक में उपभोग्य सुख साधन होते हैं। वह लोक माया या प्रकृति के प्रभाव से रहित है किन्तु वहाँ भी जीव ईश्वर के अधीन ही होता है। ईश्वर के समान कोई भी नहीं होता है।

मुक्ति में भी जीव ईश्वर के अधीन होता है—

मोक्षावस्था में जीव सर्वथा स्वतन्त्र नहीं होता है, उस समय भी ईश्वर जीवों का अधिपति होता है, इस बात का कथन सूत्रकार ने 'अतएव चानन्याधिपतिः'[1] सूत्र में किया है।

शंकराचार्य ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि मुक्त जीव अनन्यसंकल्प होने से अनन्याधिपति होता है, अर्थात् इसका कोई अन्य अधिपति नहीं होता है[2]। जयतीर्थ ने उक्त व्याख्यान को असंगत बताया है। उनके अनुसार अनन्याधिपति पद से यह कथित है कि शास्त्रों में जिनको जिसका अधिपति कहा गया है वह उससे अन्य का भृत्य नहीं होता है। यहां सर्वथा अधिपति का निवारण नहीं किया गया। क्योंकि वाक्य में 'अन्य' पद का प्रयोग है। यदि सूत्रकार को सर्वथा अधिपति का निवारण अभीष्ट होता तो 'अपति' कहते।

'उतामृतत्वस्येशानः'[3] श्रुति विष्णु को मुक्तों का स्वामी बताती है। यहाँ 'अनन्याधिपतिः' का अर्थ है 'जिसका अधिपति विष्णु के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है[4]।

---

१. ब्र० सू० ४।४।९

२. 'अतएव चानन्याधिपतिर्विद्वान् भवति। नास्यान्योऽधिपतिर्भवतीत्यर्थः' (वही शंकर का भाष्य ४।४।९)

३. ऋ० १० । ९० ।२ , श्वे० उ० ३।१५

४. द्रष्टव्य न्या० सु० पृ० ६५३

विज्ञान का फल सर्वलोकाधिपत्य व्याख्यात करना उपयुक्त नहीं। समस्त लोकों के अधिपति तो विष्णु ही हैं। यदि कहा जाय कि मुक्त पुरुष में भगवान् के धर्म होते हैं ऐसा अङ्गीकृत करने पर उसका लोकाधिपत्य उपपन्न होता है - तो ठीक नहीं है। भगवद्-धर्म मुक्त में भी मानने में तीन विकल्प हो सकते हैं -- (१) भगवान् अपना लोकाधिपत्य त्यागकर मुक्त पुरुष को दे देते हैं, या (२) विद्वान् को अवान्तर ईश्वर बना देते हैं या (३) विद्वान् भगवान् का तादात्म्य प्राप्त कर लेता है।

इनमें प्रथम विकल्प अस्वीकरणीय है, क्योंकि भगवान् का ऐश्वर्य समस्त श्रुतियों में नित्य कहा गया है, इसके अतिरिक्त एक मुक्त को यदि समस्त ऐश्वर्य दे दें तो अन्य मुक्त को क्या देंगे ? इसीलिए द्वितीय विकल्प भी नहीं हो सकता है।

तृतीय विकल्प भी असंगत है। जीव विष्णु के प्रसाद से विष्णुधर्मा नहीं हो सकता है। कोई किसी के प्रसाद से तद्धर्मा नहीं होता है। इसके अतिरिक्त मुक्त का जिस परमेश्वर के साथ तादात्म्य माना जा रहा है, वह यदि सगुण है तो उसके साथ तादात्म्य नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतिवादी अद्वैती उसे सगुण स्वीकृत नहीं करते हैं और निर्गुण में ऐश्वर्य ही सम्भव नहीं है।

इस प्रकार 'न्याय सुधा' में सप्रमाण और सयुक्ति प्रतिपादित किया गया है कि मोक्ष केवल दुःखनिवृत्ति नहीं अपितु सुख भी है, वह सुख तारतम्ययुक्त स्वरूप सुख है तथा मुक्त पुरुष भी परमेश्वर के अधीन होते हैं।

समीक्षा

जयतीर्थ को अभिमत मोक्ष का स्वरूप, अन्य सभी मतों के मोक्ष-स्वरूप से कुछ भिन्न है। उनको अभिमत मोक्ष में अदेहत्व या सर्वथा निर्विशेषत्व की स्थिति नहीं है। मोक्ष में जीव सदेह हुआ सुखों का भोग करता है। यहां पर यह शङ्का होती है कि यदि मोक्ष में जीव सदेह है तो उसका सुख के साथ ही दुःख से संयोग होगा, क्योंकि शरीर सुख और दुःख से संयुक्त रहता है। किन्तु यह शङ्का समीचीन नहीं है क्योंकि मोक्षावस्था में प्रकृत देह का कथन नहीं है, अपितु वह जीव का स्वरूप है। साथ ही मोक्षावस्था में प्राप्त होने वाला सुख भी भगवत्प्रसाद से प्राप्त होने वाला स्वरूप सुख है। भगवत्प्रसाद में अनिष्ट की आशङ्का नहीं की जा सकती है।

उक्त मोक्ष-स्वरूप शंकर को अभिमत मोक्षस्वरूप से अधिक भिन्न नहीं कहा जा सकता है। शंकर भी उसे सत्, चित् और आनन्द स्वरूप मानते हैं, जयतीर्थ भी आनन्दादि मानते ही हैं। अन्तर केवल इतना है कि शंकर उसे ब्रह्म स्वरूप ही मानते हैं, किन्तु जयतीर्थ को ब्रह्म से जीव का अत्यन्त भेद और उसकी अधीनता परम अभीष्ट है। 'स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः'[1] श्रुति में मुक्त के रमण-पूर्वक गमन का कथन है। अतः उक्त श्रुति को ध्यान में रखते हुए 'अशरीरं वाव'[2] इत्यादि श्रुति का भेदपूर्वक व्याख्यान उपयुक्त है।

-०-

---

१. छा० उ० ८।१२।३

२. वही ८।१२।१

अष्टम अध्याय

-0-

न्यायक्षमा का महत्त्व

अष्टम अध्याय

-0-

न्यायसुधा का महत्व

माध्वाचार्य

शंकर के अद्वैत विचारों की प्रमुख विरोधिनी धारा द्वैत परम्परा रही है। यद्यपि अद्वैत वेदान्त के विरोध में प्रथम प्रतिक्रिया रामानुज के काल से प्रारम्भ हुई किन्तु पुष्ट एवं प्राचीनतम आगम परम्परा को लेकर अद्वैत का प्रबल खण्डन मध्व और उनके प्रसिद्ध अनुयायियों जयतीर्थ आदि ने किया।

अद्वैत विचारधारा ने सांख्याभिमत यथार्थ मूल प्रकृति, जिसे उपनिषदों और महाकाव्यों में भी स्वीकृत किया गया है, को मिथ्या कहते हुए प्रहार किया है। रामानुज सम्प्रदाय ने अपने अध्यात्म के एक विशिष्ट और आवश्यक मौलिक सिद्धान्त को ब्रह्माण्ड में कार्य करता हुआ स्वीकृत किया है, जो ब्रह्म के अतिरिक्त उसके सहायक के रूप में है। इस प्रकार रामानुज ने प्रकृति के प्रति अद्वैत के अन्याय की आलोचना की है। किन्तु उन्होंने उस मत का स्पष्ट खण्डन न करते हुए भेदाभेद को मानते हुए अंशतः उसे स्वीकृत किया है।

मध्व ने शंकर के ब्रह्मसूत्र भाष्य का खण्डन करते हुए दृढ़तापूर्वक 'प्रकृति' के प्रति इस अन्याय को अस्वीकृत कर उसे यथावत् प्रतिष्ठित किया। उन्होंने उसे ब्रह्म के अधीन रहने वाली सर्वथा यथार्थ सत्ता के रूप में पुनः स्थापित किया। उन्होंने वेदान्तिक अध्यात्म में प्रकृति की स्थिति का स्पष्ट और असन्दिग्ध दृढ़ समर्थन किया और मायावाद का पूर्णतः खण्डन करते हुए ब्रह्म को जगत् का केवल निमित्त कारण प्रतिपादित किया, तथा अपने मत के समर्थन में ऋग्वेद, श्वेताश्वतरउपनिषद्, पुराण आदि के प्रसिद्ध वाक्यों को प्रस्तुत किया। मध्व का ईश्वर-सम्बन्धी विचार न्याय के ईश्वर विचार से उत्कृष्ट है।

अद्वैतियों के तर्कों से सांख्य और न्याय-वैशेषिक का यथार्थवाद पूर्णतः परास्त हो गया था। इस समय मध्व का द्वैत-वेदान्त ही जगत् के याथार्थ्य के समर्थक के रूप में खड़ा हुआ और उसने शंकर के अनुयायियों के मिथ्यावाद और रामानुज के ब्रह्म परिणामवाद का प्रतिरोध करते हुए उनके तर्कों का समुचित उत्तर दिया। जयतीर्थ के काल से अद्वैत और द्वैत सम्प्रदायों के बीच विशद शास्त्रार्थों की परम्परा चली। इन शास्त्रार्थों में द्वैत मत को पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई। रामानुज का विशिष्टाद्वैत इसके समक्ष कुछ महत्त्वहीन सिद्ध हुआ[१]।

बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक मायावाद के शुष्क तर्कों से लोगों की श्रद्धा घटने लगी। इसके पूर्व भी कल्पतरु और भामती के लेखकों को शांकर मत के समर्थन में पर्याप्त कठिनता का सामना करना पड़ा। ब्रह्मसूत्र के चतुर्थ अध्याय के तृतीयपाद के ७-१४ सूत्रों की अद्वैतपरक व्याख्या करने में शंकराचार्य ने स्वयं कठिनता का अनुभव करते हुए उन सूत्रों को पूर्वपक्ष के रूप में व्याख्यात किया। उन सूत्रों से ब्रह्म की सविशेषता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर शंकर ने यह स्वीकृत किया है कि कुछ वेदान्ती लोग भी जीव को यथार्थ मानते हैं[२]। अद्वैतवेदान्त के कतिपय सिद्धान्तों में उनके

---

१. The logical and dialectical thinkers of Viśistadvaita were decidedly inferior to the prominent thinkers of the S'ankara and Madhva school (Dr. S.N.Dasgupta : A History of Indian Philosophy)

२. अपरे पारमार्थिकमेव जैवं रूपमिति मन्यन्ते, अस्मदीयाश्च केचित्
(ब्र० सू० १।३।१९ पर शंकर का भाष्य)

अनुयायियों में परस्पर ही अत्यन्त मतभेद होने लगा। शंकर जहाँ भावाद्वैत मानते हैं, वहीं मण्डन मिश्र ने अभावाद्वैत को समर्थित किया। कुछ विद्वान् एक जीववाद का समर्थन करते हैं तो कुछ नानाजीववाद का। वाचस्पतिमिश्र ने जीवाश्रिताज्ञानवाद का प्रतिपादन किया तो सर्वज्ञात्मा ने ब्रह्माज्ञानवाद का। मिथ्यात्व की परिभाषा में अद्वैतियों में ऐकमत्य नहीं हो सका।

रामानुज ने अद्वैत के विवर्तवाद और मायावाद से हटकर अपने विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन अवश्य किया, किन्तु वह अद्वैत मत से सर्वथा अप्रभावित नहीं रह सके। कतिपय आध्यात्मिक विचारों को उन्होंने स्वल्प परिवर्तन के साथ अद्वैत मत से ही ग्रहण किया।

मध्वाचार्य ने स्वतन्त्र रूप से यथार्थवाद का प्रतिपादन किया। विष्णु को सर्वोत्कृष्ट परमसत्ता बताते हुए उन्होंने शेष प्रकृति आदि को नित्य किन्तु उसके अधीन प्रतिपादित किया। स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र द्विविध सत्ताओं को स्वीकृत करने के कारण ही उनका मत द्वैत मत कहा जाता है। साक्षी का स्वरूप, विशेष, भेद, द्रव्य, जगत्, आकाश और काल पर उन्होंने मौलिक और विशिष्ट विचार प्रस्तुत किये।

इन्हीं विचारों को लेकर उन्होंने ब्रह्मसूत्र, उपनिषदों और गीता पर उत्कृष्ट कोटि के भाष्य लिखे। अकेले ब्रह्मसूत्र पर ही उन्होंने तीन भाष्य लिखे जिनका उल्लेख प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। कर्मनिर्णय जैसे मौलिक ग्रन्थ में उन्होंने कर्म के स्वरूप का ब्रह्मपरक विशिष्ट विवेचन किया है।

यद्यपि मध्वाचार्य का कार्य अपने में अद्वितीय था और उससे न केवल तत्त्वचिन्तन में लगे लोगों को अपितु जन सामान्य को भी आध्यात्मिक अवलम्ब प्राप्त हुआ, किन्तु उनके मत का अपेक्षित महत्त्व लोगों को ज्ञात नहीं हो सका। उसका कारण था मध्व के व्याख्यानों की दुर्बोधता। जयतीर्थ और व्यासराय जैसे टीकाकारों ने मध्व के विचारों को गति प्रदान की।

जयतीर्थ

यद्यपि जयतीर्थ के पूर्व के आचार्यों पद्मनाभ तीर्थ आदि ने मध्वाचार्य के कतिपय ग्रन्थों पर टीकाएं लिखीं किन्तु वे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। माध्व-वेदान्त को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कराने एवं उसे बोधगम्य बनाने का श्रेय जयतीर्थ और व्यासतीर्थ को ही है। मध्वाचार्य की व्याख्यानशैली सामान्य और सरल है। उनकी भाषा में भी सरल शब्दावली का प्रयोग है, किन्तु दार्शनिक विचारों की गहनता के कारण उनकी कृतियां अत्यन्त दुर्बोध हैं। किसी अच्छी टीका के बिना उनके भावों को समझना एक दुष्कर कार्य है। जयतीर्थ ने उनके विचारों को सुबोध करने का कार्य अपने हाथ में लिया और उन्होंने उनकी लगभग सभी महत्वपूर्ण कृतियों पर उत्कृष्ट कोटि की टीकाएं लिखीं। उन्होंने मध्व के मत को सुव्यवस्थित रूप दिया, मध्व द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं को विशदरूप से समझाया है। उदाहरणार्थ उनकी भक्ति की परिभाषा अवलोकनीय है—

परमेश्वरभक्तिर्नाम निरवधिकानन्तानवद्यकल्याण गुणत्वज्ञान पूर्वकः स्वात्मात्मीय समस्तवस्तुभ्योऽप्यनन्तगुणाधिकोऽन्तरायसहस्रेणाप्यप्रतिबद्धो निरन्तरप्रेमप्रवाहः[1]।

भक्ति की इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि परमेश्वर के प्रति निरन्तर होने वाले प्रेम-प्रवाह रूप भक्ति के लिए ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक है। इस परिभाषा में परमेश्वर का स्वरूप भी स्पष्ट किया गया है। वह सम्पूर्ण कल्याणगुणों वाला है। परमेश्वर में वे गुण निरवधिक एवं पूर्णरूप से विद्यमान हैं। उन्हीं गुणों के साथ दोषों

---

१. न्या० सु० पृ० १७

की कल्पना नहीं की जा सकती है। दोषों के रहने पर गुणों की पूर्णता नहीं हो सकती है तथा गुणों की अपूर्णता होने पर ईश्वर सातिशय एवम् अस्वतन्त्र होगा। इष्टतम आत्मा के प्रति जो सहज प्रेम होता है, उससे भी अनन्तगुना ईश्वर के प्रति प्रेम ही सच्ची भक्ति है। सच्ची भक्ति अनेकानेक विघ्नों से भी अबाधित होती है।

न्यायसुधा

जयतीर्थ की सम्पूर्ण कृतियों में न्यायसुधा का परम विशिष्ट स्थान है। माध्व-वेदान्त समग्र रूप में हमें न्यायसुधा में ही प्राप्त होता है। चूंकि न्यायसुधा ब्रह्मसूत्र-भाष्य 'अनुव्याख्यान' की टीका है, अत: उसमें सम्पूर्ण दार्शनिक या आध्यात्मिक तत्वों का विवेचन होना स्वाभाविक ही है। उन विवेचनों के सन्दर्भ में आने वाले विभिन्न विषयों का व्याख्यान जयतीर्थ ने अत्यन्त स्पष्ट और सूक्ष्मरूप से किया है। विरोधी मतों के खण्डन में उनकी बुद्धि सूक्ष्मतम तर्कों की गहराई तक पहुंची है। उदाहरणार्थ जगत् के मिथ्यात्व का खण्डन करने में मिथ्यात्व के विकल्प और तत्सम्बन्धी श्रुतियों के अर्थों की सूक्ष्म व्याख्या अवलोकनीय है।

न्यायसुधा की विषय योजना

न्यायसुधा में विषय योजना ब्रह्मसूत्र के विभिन्न भाष्यों की तरह ही है, किन्तु यथा स्थान प्रसंगवश ख्यातिवाद, प्रमाण, विशेष आदि अनेक

विषयों का समावेश किया गया है। जिज्ञासाधिकरण में नारायण शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए ब्रह्म के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है। इसी अधिकरण में ही मोक्ष के प्रसंग में जयतीर्थ ने परमेश्वर की शक्ति को ही जीव का मुख्य आवरण माना है[1]। अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर भी ईश्वर जब तक अपनी बन्धक शक्ति का व्यावर्तन नहीं करता, तब तक अशेष आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं होती है। अद्वैताभिमत मिथ्याभूत अज्ञान की निवृत्ति का खण्डन सरल तर्कों से किया गया है। किन्तु प्रथम अध्याय में मुख्यत: ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया। द्वितीय अध्याय में जगत् के याथार्थ्य का प्रतिपादन एवं तत्सम्बन्धी विरोधी मतों का विस्तृत रूप से खण्डन किया गया है। इसी अध्याय में जगत्-कारणत्व के विषय में सांख्य, बौद्ध, न्याय,अद्वैत आदि मतों का युक्तियुक्त खण्डन किया गया है। आकाशाधिकरण और मातरिश्वाधिकरण में अव्याकृत मुख्य आकाश और वायु की नित्यता प्रतिपादित की गयी है। 'आत्मन: आकाश: सम्भूत:' श्रुति में भूत-आकाश की उत्पत्ति मानी गयी है।

पृथगधिकरण में जीव और ईश्वर का अत्यन्तभेद प्रतिपादित किया गया है, जबकि शंकर ने इस 'पृथगुपदेशात्' सूत्र को पूर्वपक्षी मत मानकर आत्मा के अणुत्व का खण्डन किया है। जीव और ईश्वर के अत्यन्तभेद का समर्थन और उनके ऐक्य का खण्डन करने में जयतीर्थ को अद्भुत तर्क-शक्ति और पाण्डित्य का परिचय मिलता है। इस सन्दर्भ में जयतीर्थ ने उन अद्वैतपरक श्रुतियों को भी पूर्व पक्ष के रूप में रखा है,जिनको मध्वाचार्य ने नहीं प्रस्तुत किया —

अहं हरि: सर्वमिदं जनार्दनो नान्यतत: कारणकार्य जातम्।[2]

---

१. द्रष्टव्य - न्या० सु० पृ० २१

२. न्या० सु० पृ० ४३५

विभेद जनके ज्ञाने नाशमात्यन्तिके गते ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति ।।[1]

तृतीय अध्याय में जीव और ईश्वर के भेदाभेद मत और विभिन्न मतों के मोक्षसाधन का खण्डन सरल तर्कों से किया गया है। चतुर्थ अध्याय में सामान्य रूप से मोक्ष के सुखस्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

न्यायसुधा की परिभाषा

जयतीर्थ का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। सामान्यतः उनकी भाषा सरल है, क्योंकि उनकी टीका का उद्देश्य भाष्य-सिद्धान्तों को बोधगम्य बनाना है। ब्रह्म, जगत् और जीवों का स्वरूप, जीव और ब्रह्म का अत्यन्तभेद प्रतिपादित करने में उन्होंने अत्यन्त सरल भाषा का प्रयोग किया है। ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या में उनकी भाषा का सारल्य अवलोकनीय है —

'निखिला निःशेषाः पूर्णाः प्रत्येकमप्यनवधिका गुणा आनन्दादयः । एक शब्दः केवलार्थः । त एव देहो यस्य न पुनः प्राकृतादिरिति तथोक्तः । तत्र निखिलेत्यनेन निखिलगुणत्वं पूर्णगुणत्वं स्वतोगुणैकदेहत्वं चेतिविवक्षाभेदेन त्रीणि लक्षणान्युदितानि ।[2]

विरोधी मतों का खण्डन करने में भी उनकी भाषा में सरलता है। अद्वैतमत के अज्ञान-सिद्धान्त के खण्डन में उनकी भाषा देखिए --

'यत्तावत्परेण भावरूपमज्ञानमङ्गीकृतम्, तत्किं जीवाश्रयम्, उत ब्रह्माश्रयम्,

---

1. न्या० सु० पृ० ४३५ और ५०७
2. वही, पृ० १

अथ ब्रह्माश्रयम् ।.... किं तद्ब्रह्माश्रितमज्ञानं ब्रह्मैवप्रतिबध्नाति, उतजीवम्, अथ जडम् । नापि तस्य ब्रह्माश्रितस्य ब्रह्मावरणस्याज्ञानस्य विषयोवाच्यः ।आवरणं खलु पटलादिकं क्वचिदाश्रितं किञ्चिद्विषये किञ्चित् प्रतिबध्नाति ।'[1]

किन्तु विषयों की सूक्ष्म विवेचना करने में भाषा में कुछ कठिनता भी प्राप्त होती है । 'अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्' सूत्र की व्याख्या में जयतीर्थ ने जीव को ब्रह्म का आभास कहा है । भेदाभेदवादी का कथन है कि जीव को सूर्य का आभास कहना उपयुक्त नहीं है,क्योंकि अवभास उपाधि के अधीन होता है । जयतीर्थ उत्तर देते हैं कि जीव का आभासत्व उपाधि की अधीनता, जडत्व आदि के कारण नहीं अपितु ईश्वर की अधीनता और सदृशत्व के कारण माना गया है —

'अनेनात एव प्रकृताभ्यां तदधीनत्व-तत्सदृशत्वाभ्यामेवाभासत्वं सूर्यकाद्युपमा चोक्तेतिस्वाभिप्राय-प्रकटनं सूत्रार्थ इत्युक्तं भवति ।... उपाध्यधीनत्व तन्नाश-नाश्यत्व जडत्वाद्यैरपि नेत्यर्थः ।'[2]

पूर्वपक्ष की ओर से भी जयतीर्थ ने तर्कों में कठिन भाषा का प्रयोग किया है । भावरूप अज्ञान की सिद्धि में अद्वैतियों की ओर से प्रस्तुत अनुमान वाक्य की भाषा देखिए --

'विवादगोचरापन्नं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्त-स्वविषयावरण-स्वनिवर्त्य-स्वदेशगत-वस्त्वन्तर-पूर्वकम्, अप्रकाशितार्थ-प्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्न-प्रदीपप्रभावत् ।

----

१. न्या० सु० पृ० ६०

२. वही, पृ० ५०४

किं च, विगीतं देवदत्तनिष्ठप्रमाणज्ञानं देवदत्तनिष्ठ-प्रमाप्रागभावातिरिक्तानादेर्निवर्तकम्, प्रमाणज्ञानत्वात्, यज्ञदत्तगत-प्रमाणज्ञानवत् ।[1]

ऐसे पूर्वपक्ष के उत्तरों की भी भाषा अपेक्षाकृत कठिन ही है। पूर्वोक्त अनुमान वाक्य की अनुपपन्नता निम्न रूप में प्रस्तुत की गयी है --

'अनुमानं त्वसम्बद्धमेव ; प्रकाशकत्वस्य ज्ञाने प्रदीपप्रभायां वैकल्याभावेनासिद्ध्यादिप्रसंगात् ।[2]'

जयतीर्थ की भाषा संयत और भावों की गम्भीरता लिये हुए है । न्यायसुधा में सर्वत्र उनकी विनम्रता और पाण्डित्य झलकता है । उनमें अपने पाण्डित्य का दर्प नहीं है । ग्रन्थ के आरम्भ में ही मङ्गलाचरण के अनन्तर उन्होंने विनम्रता प्रदर्शित की है --

'न शब्दाब्धौ गाढा न च निगमचर्चासु चतुरा
न च न्याये प्रौढा न च विदितवेदा अपि वयम् ।
परं श्रीमत्पूर्णप्रमति-गुरु-कारुण्य सरणिं
प्रपन्ना मान्याः स्मः किमपि च वदन्तोऽपि महताम् ।।

ऐसी विनम्रता हमें हिन्दी साहित्य में कवि शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी के काव्य में मिलती है --

कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ । मति अनुरूप रामगुन गावउँ ।।
कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू । सकल कला सब बिद्या हीनू ।।

---

१. न्या० सु० पृष्ठ ६२

२. वही, पृष्ठ ६३

जयतीर्थ की शैली

जयतीर्थ की व्याख्या-शैली उत्कृष्ट कोटि की है । अपने विचारों की अभिव्यक्ति में वे विनम्र और दक्ष थे । उनकी भाषा और शैली में निरर्थकता या कृत्रिमता नहीं थी । उनकी स्वाभाविक शैली और भाषा के कारण ही जनसामान्य पर उनके विचारों का अपेक्षित प्रभाव पड़ा और माध्व-मत के प्रति लोगों का आकर्षण हुआ । वादरत्नावली कार ने उनकी भाषा और शैली की प्रशंसा निम्न प्रकार से की है —

> नो धत्ते जडतां न मङ्गमयते नीचस्थलं नेहते,
> स्खालित्यं न च याति नैति कृशतां च चौर्मं क्वचिन्नाञ्चते ।
> मानं नोज्झति नो जहाति च पदं व्यर्थं न कौकूयते,
> कल्यैयं जयतीर्थ कोविदवच: कल्लोलिनी सेव्यताम् ।।[१]

प्रत्येक सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित करने में वे सूक्ष्मतम शङ्काओं का भी निराकरण करते हैं । किसी भी सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के पहले वे पूर्व पक्षों का विस्तृत उपन्यास करते हैं । पूर्वपक्ष के उपन्यास करते समय द्वैत मत की ओर से विभिन्न शङ्काएं प्रस्तुत करते हुए उनका समाधान भी प्रस्तुत करते जाते हैं । पूर्वपक्ष के सम्यक् उपन्यास के अनन्तर उसकी विशद आलोचना करते हुए सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हैं । बीच बीच में भी पूर्वपक्ष की ओर से विभिन्न शङ्काएं प्रस्तुत करते हुए उनका भी विशद समाधान करते जाते हैं । उदाहरणार्थ जगत्-कारणत्व में परिणामवाद का खण्डन द्रष्टव्य है ।

---

१. वादरत्नावली परिच्छेद २

विरोधी मतों का खण्डन करने में जयतीर्थ ने सामान्यत: विनम्र भाषा और शैली का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं पर उनकी भाषा में तीखापन[1] और व्यंग[2] का भी यथास्थान प्रयोग हुआ है। पाणिनीय व्याकरण के प्रति जयतीर्थ सदैव सावधान रहे हैं। आवश्यक होने पर उन्होंने पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि के वाक्य उद्धृत किये हैं। मध्व के शब्द-प्रयोगों का औचित्य बतलाने के लिए उन्होंने `अभियुक्त प्रयोगों' को भी प्रदर्शित किया है। मध्व के द्वारा प्रयुक्त `ज्ञानसूर्यमृते' में विना के योग की ही तरह ऋते के योग में द्वितीया का प्रयोग अभियुक्त बताया है।[3] किन्तु वे सर्वत्र व्याकरणात्मक पाण्डित्य प्रदर्शित करते हुए अनावश्यक रूप से शब्द-प्रयोगों के औचित्य बताने में ही नहीं उलझे रहे। कुछ स्थलों को छोड़कर जयतीर्थ ने मध्व के सूत्रभाष्य का समर्थन करने या विरोधी भाष्यों का खण्डन करने के लिए पाणिनि के सूत्रों या व्याकरणात्मक सिद्धान्तों का आश्रय नहीं लिया है। परिणामवाद के खण्डन में उन्होंने `जनिकर्तु: प्रकृति:'[4] और `ध्रुवमपायेऽपादानम्'[5] सूत्रों का समुचित व्याख्या प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया है कि यह सूत्र (जनिकर्तु: प्रकृति:) उपादानत्व का समर्थन नहीं करता है। यहां पर उनकी व्याख्यान शैली की सूक्ष्मग्राहिता अवलोकनीय है।[6]

विरोधी सिद्धान्तों का खण्डन करते समय वे उस सिद्धान्त[*] की शब्दावली पर हर प्रकार से सूक्ष्मतम विवेचन करते हैं। मिथ्यात्व,

---

१. न हि बालकस्य शृङ्गमस्ति
२. चक्षुषी निमील्य वदत: क:प्रतिमल्ल: ?
३. न्या० सु० पृष्ठ ५२६
४. अष्टाध्यायी १।४।३०
५. वही १।४।२४
६. द्रष्टव्य न्या०सु०,पृ० २०१,२०

*

अनिर्वचनीयता आदि की उन्होंने पहले शब्दत: विशद आलोचना की है,और उसके पश्चात् उनके अर्थों के विभिन्न विकल्पों को लेकर उनका सूक्ष्म तर्कों से खण्डन किया है। पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक रूप से सत् त्रैविध्य की अनुपपत्ति में उन्होंने कुशलतापूर्वक सूक्ष्म तर्कों की उद्भावना की है[1]।

न्यायसुधा -- एक सफल टीका

समग्र संस्कृत वाङ्मय में `न्यायसुधा` उत्कृष्टतम और अद्वितीय टीका है। यद्यपि अद्वैत वेदान्त में शांकरभाष्य की भामती जैसी टीकाएं अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, स्वयं जयतीर्थ ने भी मध्वाचार्य की अन्य कृतियों पर भी सफल टीकाएं लिखी हैं, किन्तु न्यायसुधा की विषय-प्रस्तुति, भाषा,शैली, स्व-सिद्धान्तों की परिरक्षा और विरोधी मतों के खण्डन के प्रयत्न, नवीन विचारों का समावेश आदि सर्वथा अनुपम हैं। डा० दासगुप्त प्रभृति विद्वान् न्यायसुधा को विशिष्टतम कृति मानते हैं[1]। इसमें जयतीर्थ ने मध्व के अत्यन्त संक्षिप्त कथनों की अर्थ की गहराई को विशद रूप से स्पष्ट करते हुए तत्तत्सम्बन्धी विभिन्न पूर्वपक्षों का समुचित उत्तर दिया है। `प्रत्यक्षावच्च प्रामाण्यं स्वत एवागमस्य हि`[2], मध्व के इस वाक्य में `प्रत्यक्षावच्च` अंश की व्याख्या से ही विभिन्न विरोधी मतों की आलोचना करते हुए आगम के स्वत: प्रामाण्य की पुष्टि की है[3]। इसी प्रकार `वैलक्षण्यं सतश्चापि स्वयं ह्यभेदवादिभि:` इस वाक्य की बारह व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं[5]।

---

1. The Nyaya-sudha of Jayatirtha is an exceedingly recondite work of great excellence (Dr.S.N.Dasgupta --A History of Indian Philosophy)

२. अनु० पृ० ३ ३. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० ७५-८४

४. अनु० पृ० १ ५. द्रष्टव्य न्या० सु०, पृ० ३५-३७

जयतीर्थ ने प्रमुख रूप से अद्वैत सिद्धान्तों का ही खण्डन किया है, क्योंकि अद्वैत मत के विरोध को लेकर ही द्वैत मत प्रादुर्भूत हुआ था। अद्वैतियों के सिद्धान्तों का खण्डन करते समय उन्होंने वाचस्पति, चित्सुख, विवरणकार और अमलानन्द जैसे टीकाकारों द्वारा प्रस्तुत तर्कों की विशद आलोचना की है। उन्होंने अनेक स्थलों पर शंकर के भाष्य को भी उद्धृत किया है[1]। मध्व के कथनों की सर्वथा पुष्टि ही जयतीर्थ का विशिष्ट कार्य है। मध्व के द्वारा प्रयुक्त `विष्णावि`[2] और `जनितृ`[3] जैसे अपाणिनीय प्रयोगों को वैदिक प्रयोग बताते हुए उनकी साधुता का समर्थन किया है[4]। उल्लेखनीय है कि मध्वाचार्य ने `विष्णावि` प्रयोग के अनन्तर अगली ही पङ्क्ति में `विष्णौ` पद का प्रयोग किया है[5]।

प्रभाव

मध्वाचार्य के पूर्व से ही अद्वैत मत के तर्कों से बोझिल हो जाने के कारण जन सामान्य मोक्ष या परमशान्ति के अन्य मार्ग के चिन्तन में लगे थे किन्तु कोई दृढ़ अवलम्ब न होने से वे न चाहते हुए भी उसके अनुयायी बने रहे। मध्वाचार्य ने समय की माँग को पूरा किया। उन्होंने जगत् और दुःखादि बन्ध को सर्वथा सत्य प्रतिपादित किया और मोक्ष में स्वरूप सुख की प्राप्ति बताते

---

१. न्या० पृष्ठ २६५, ५६०, ६५३

२. अनु० पृ० १२

३. वही, पृ० १५

४. द्रष्टव्य न्या० सु० पृ० १७६, १८७

५. स्वातन्त्र्यार्थमभिप्रेत्य दोषशब्दाश्च विष्णावि ।
वासुदेवश्रुतिश्चाह नैव विष्णावमङ्गलम् ॥
-- अनु० पृ० १२

हुए ईश्वर की भक्ति को उसका परमसाधन बताया । मध्व-प्रतिपादित ब्रह्म-स्वरूप और मोक्ष के सगुण और सविशेष होने से उसी समय से ही उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी । द्वैत मत के प्रभाव से अद्वैत और विशिष्टाद्वैत मत का प्रभाव क्षीण होने लगा । परवर्ती टीकाकारों के द्वारा इस मत का प्रभाव व्यापक होने लगा ।

यद्यपि माध्व मत अत्यन्त सरल और स्वाभाविक होने से शीघ्र ही जनमानस इससे प्रभावित होने लगा किन्तु उनके ग्रन्थों के दुर्बोध होने के कारण उनका मत अधिक प्रभावी नहीं हो सका । पद्मनाभ आदि की टीकाओं से उनका मत कुछ बोधगम्य हुआ । इसके प्रभाव का चरम उत्कर्ष जयतीर्थ की 'न्यायसुधा' के आविर्भाव से हुआ । भारतीय दर्शन के क्षेत्र में भक्ति सम्प्रदाय का आविर्भाव माध्वमत की न्यायसुधा जैसी उत्कृष्ट कृति का ही प्रभाव प्रतीत होता है । हिन्दी साहित्य के अद्वितीय कवि सन्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी पर मध्व-प्रतिपादित भक्ति का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है । ज्ञान और भक्ति का अन्तर बताते हुए उन्होंने जयतीर्थ की न्यायसुधा के ही विचारों का प्राय: अनुमोदन किया है । उनके —

वारिमथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल ।
बिनु हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल ।।

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि ।[१]

इत्यादि वाक्यों से न्यायसुधा में प्रतिपादित मोक्ष के प्रति भक्ति की परम साधन का कितना प्रबल समर्थन किया गया है । राम कथा के अद्वितीय वक्ता

---

१. रामचरितमानस

कागभुशुंडि के द्वारा वे अद्वैतोपदेशक लोमश ऋषि को प्रभावित कराकर उन्हें सगुण ब्रह्म का उपदेश करने पर बाध्य करते हैं[1]। मध्वाचार्य के प्रथम अध्यापन गुरु अच्युत-प्रेक्ष भी मध्व से प्रभावित होकर ही अद्वैतमत त्यागकर द्वैत मत में आये थे। ईश्वर और जीव के भेद का समर्थन करते हुए गोस्वामी जी ने जयतीर्थ के जैसे तर्कों का ही सहारा लिया है —

क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिन द्वैत कि बिनु अज्ञान।
मयाा बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान।।

बंगाल का चैतन्य सम्प्रदाय अपने 'विशेष', लिङ्गपा भक्ति, आदि विचारों के लिये माध्व-मत का ही कृतज्ञ है। मध्व के मतों का उनको 'न्यायसुधा' जैसी सर्वाङ्गपूर्ण व्याख्याओं के द्वारा जन सामान्य में प्रचार और प्रसार हुआ। कर्नाटक के हरिदासों का भक्ति आन्दोलन मध्व के धार्मिक विचारों का क्षेत्रीय भाषाओं में स्वाभाविक व्याख्याओं का ही प्रभाव है। आज भारत में अनेक भाषाओं के बोलने वाले माध्व-मत के अनुयायी हैं। यह इस मत के प्रभाव का उत्कृष्ट प्रमाण है। और इन सब प्रभावों के लिये उत्तरदायी है जयतीर्थ की अनुपम कृति 'न्यायसुधा'। द्वैत मत को जानने के लिये उसी का अध्ययन किया जाता है। बंगलोर में और पालिमार मठ कर्नाटक में द्वैत सम्प्रदाय के विशिष्ट संस्थानों में केवल न्यायसुधा का ही ६ वर्षों का विशिष्ट पाठ्यक्रम है, जो इसकी उत्कृष्टता और गहनता का द्योतक है।

-o-

१- रामचरित मानस-उत्तरकाण्ड

नवम अध्याय

-o-

अध्ययनोपसंहार

नवम अध्याय

-0-

अध्ययनोपसंहार

पिछले अध्यायों में जयतीर्थ द्वारा न्यायसुधा में विशद रूप से प्रतिपादित प्रकृति, ब्रह्म, जीव, जगत्, मोक्ष आदि प्रमुख विषयों का विवेचन किया गया । इन सम्पूर्ण विषयों के प्रस्तुत अध्ययन से ज्ञात होता है कि जयतीर्थ ने उक्त ग्रन्थ में मध्व के सिद्धान्तों का यथावत् रूप में प्रबल समर्थन और विरोधी मतों का यथास्थान समुचित खण्डन किया है । जयतीर्थ के समय तक अद्वैत वेदान्त का वाङ्‌मय अत्यन्त विशाल, और गहन तर्कों से समृद्ध हो गया था। मध्व ने अपनी अनुपम कृतियों से द्वैत मत का प्रबल प्रतिपादन अवश्य किया, किन्तु विचारों की गहनता के कारण उनकी कृतियां बिना किसी अच्छी टीका के बोधगम्य न होने से अधिक प्रभावी नहीं हो सकी । इसके अतिरिक्त अद्वैतमत का खण्डन करने के लिए उसके तर्कों से गहन विशाल वाङ्‌मय के समकक्ष द्वैत मत तर्कपूर्ण नहीं था । जयतीर्थ ने इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति की और अपने तर्कों से अपने पूर्व अद्वैतमतावलम्बी प्रमुख आचार्यों के तर्कों का समुचित उत्तर देते हुए द्वैतमत का औचित्य प्रस्तुत किया ।

मध्व के द्वैत सिद्धान्त का वाचक द्वैत शब्द अंग्रेजी के [illegible] शब्द का पर्याय नहीं है, जिसके अनुसार दो स्वतन्त्र मूल तत्त्वों की सत्ता स्वीकृत की जाती है । सांख्य मत को उक्त प्रकार का द्वैत माना जा सकता है, क्योंकि सांख्य में प्रकृति और पुरुष दो स्वतन्त्र मूलतत्त्व स्वीकृत किये गये हैं । मध्व के द्वैत में स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र द्विविध मूलसत्ताओं को स्वीकृत किया गया है । ब्रह्म या ईश्वर नित्य, स्वतन्त्र और सर्वोत्कृष्ट है ; उससे व्यतिरिक्त प्रकृति, जीव, काल आदि नित्य किन्तु ईश्वर के अधीन, उससे अवर या अधम हैं । तत्त्व-संख्यान

में मध्व ने स्वयं कहा है —

'स्वतन्त्रमस्वतन्त्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते ।'

स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र का लक्षण जयतीर्थ ने निम्न प्रकार से व्याख्यात किया है —

स्वरूपप्रमितिप्रवृत्तिलक्षणसत्त्रैविध्ये परानपेक्षं स्वतन्त्रम् परापेक्षमस्वतन्त्रम्

यद्यपि जयतीर्थ ने सांख्य की ही तरह प्रकृति को नित्य और त्रिगुणात्मिका माना है, किन्तु उसे परमाणुरूपा स्वीकृत किया है। प्रकृति जड़ और जगत् का उपादान कारण है। सृष्टि भी सांख्य मत की ही तरह महद्, अहंकार आदि के क्रम से मानी गयी है। किन्तु सांख्य में मूल अव्यक्त प्रकृति को कारण रूप से स्वीकृत किया गया है, जबकि जयतीर्थ मूलप्रकृति में महद्, अहंकार, तन्मात्र आदि को भी परमाणुरूप से नित्य मानते हैं। इन सब को सामस्त्येन उन्होंने प्रकृति ही कहा है। प्रकृति से महदादि क्रम से सृष्टि मानते हुए भी वे उनकी सृष्टि घटादि के समान अभूत्वाभवनरूपा नहीं अपितु पराधीनाविशेषलाभ-रूपा मानते हैं। इसी प्रकार देहेन्द्रियादि से संयोग ही जीव की उत्पत्ति और इनसे वियोग ही उसका मरण कहा जाता है। आकाश और वायु के उन्होंने अव्याकृत और स्थूल दो प्रकार माने हैं। इनमें अव्याकृत आकाश और वायु नित्य है और स्थूल की उत्पत्ति होती है।

उक्तरूपा प्रकृति सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण है। जीव यथार्थतः कर्ता एवं भोक्ता है। प्रकृति के कार्य देहेन्द्रियादि भोग का साधन है। सुख दुःखादि जीवों के स्वकृत प्रारब्ध कर्मों के फल और सर्वथा सत्य हैं। इनको सत्य स्वीकृत करने पर ही मुक्ति की इच्छा और प्रयत्न उपपन्न होते हैं।

अद्वैत वेदान्त में प्रकृति या जगत् को सदसद्-विलक्षण अज्ञान का कार्य माना गया है। मायावाद के इस अज्ञान-सिद्धान्त का जयतीर्थ ने विशद खण्डन किया है। उक्त अज्ञान का आश्रय जीव, ब्रह्म और जड़ में से ही कोई एक हो सकता है। किन्तु इनमें से सभी विकल्प अनुपपन्न हैं। जीव या जड़ को अज्ञान का आश्रय मानने पर अन्योन्याश्रयत्व दोष होगा क्योंकि जीव और जड़ का कारण अज्ञान है और अज्ञान उन पर आश्रित है। ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय मानने पर आवरण का विषय उपपन्न नहीं होता है,क्योंकि ब्रह्म नित्यसिद्ध और स्वयं प्रकाश होने से आवरण का विषय नहीं हो सकता और ब्रह्म के अतिरिक्त जीव आदि अज्ञान के ही कार्य हैं। जगत् और सुखदु:खादि को मिथ्या मानने पर मोक्षविषयक शास्त्र भी व्यर्थ होगा।

मायावादियों के अनुसार स्वीकृत किये गए अज्ञान की सत्ता भी अप्रामाणिक है। इसके प्रमाणरूप में मायावादियों द्वारा दी गयी युक्तियों का खण्डन जयतीर्थ ने स्वाभाविक रूप से किया है। जयतीर्थ भाव पदार्थ के समान ही अज्ञानाभाव का भी प्रत्यक्ष मानते हैं। किन्तु भावरूप अज्ञान की सिद्धि में मायावादियों द्वारा प्रस्तुत अनुमान वाक्य युक्तियुक्त लगता है। उनके अनुसार विवादगोचरापन्न प्रमाणज्ञान के पूर्व उसी देश में वर्तमान उसके प्रागभाव से व्यतिरिक्त ऐसी कोई वस्तु है जो उसका आवरण है और उससे निवर्त्य है,क्योंकि वह (प्रमाण ज्ञान) अप्रकाशित अर्थ का प्रकाशक है जैसे प्रकाशक,प्रथमोत्पन्न प्रदीपप्रभा के पूर्व अन्धकार होता है। जयतीर्थ का कथन है कि प्रदीपप्रभा और प्रमाणज्ञान में एक जैसा प्रकाशकत्व न होने से मायावादियों का उक्त अनुमान असम्बद्ध है।

जयतीर्थ ने भी भावरूप अज्ञान को स्वीकृत किया है किन्तु उनका मत मायावादियों के मत से अत्यन्त भिन्न है। उनका अभिमत अज्ञान

जीवाश्रित और जीव का आवरण है।

मायावादी पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक तीन प्रकार के सत् मानते हैं। इनमें ब्रह्म पारमार्थिक, जगत् व्यावहारिक और शुक्तिरजतादि प्रातिभासिक सत् हैं। वे व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत् को अनिर्वचनीय कहते हैं। जयतीर्थ के द्वारा सत् के त्रैविध्य और अनिर्वचनीयता की आलोचना अत्यन्त युक्तिसंगत है। उनके अनुसार सदसद्विलक्षण्य या अनिर्वचनीयता को सत् प्रमाण से सिद्ध मानने पर द्वैतापत्ति होगी, असत् प्रमाण साधक नहीं होगा और सदसद्विलक्षण स्वयं ही असिद्ध है।

जयतीर्थ के ब्रह्म और जीव सम्बन्धी विचारों को सेव्यसेवक्य-लक्षणाभक्ति-सम्बन्धी विचार कहा जा सकता है। ब्रह्म नित्य, सर्वगुणपरिपूर्ण, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र, सर्वोत्कृष्ट और भक्तों को ज्ञान और मोक्ष देने वाला है। विष्णु, नारायण, ईश्वर आदि सभी पद उसी के वाचक हैं। 'नारायण' शब्द की व्याख्या करते हुए जयतीर्थ ने ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट किया है। ब्रह्म में आनन्दादि गुणों के साथ दुःखादि दोषों की स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती है, क्योंकि उसमें निखिलगुण पूर्णरूप में विद्यमान हैं। दोषों के होने पर गुणों की पूर्णता नहीं हो सकती है। उनके अनुसार ब्रह्म को निर्गुण मानना अनुपपन्न है। उस निर्गुण ब्रह्म को सगुण ईश्वर से अभिन्न मानने पर उसके भी सगुणत्व का प्रसंग होगा तथा अत्यन्त भिन्न मानने पर कैवल्य संभव नहीं होगा।

जीव और जगत् ब्रह्म से सर्वथा भिन्न और सत्य है। 'एकमेवाद्वितीयम्' और 'नेह नानास्ति किञ्चन' की व्याख्या में जयतीर्थ ने अद्वितीय का अर्थ सर्वोत्कृष्ट या समाधिकरहित और नाना का अर्थ ब्रह्म के भिन्न धर्म ग्रहण किया है, जिसके अनुसार ब्रह्म या विष्णु ही एकमात्र सर्वोत्कृष्ट हैं एवं उनके गुण धर्म आदि उनसे भिन्न नहीं हैं। किन्तु ब्रह्म के गुण क्रिया

आदि का उससे भेद व्यवहार किया जाता है। इसकी उपपत्ति के लिये जयतीर्थ ने भेदप्रतिनिधि विशेष की कल्पना की है। ब्रह्म ही जगत् के जन्मादि का कारण है,किन्तु जयतीर्थ ने उसे निमित्त कारण माना है, पुत्रादि की उत्पत्ति में जैसे पित्रादि निमित्त कारण होते हैं। ऊर्णनाभि का दृष्टान्त भी ब्रह्म की उपादानता नहीं अपितु निमित्तता ही सिद्ध करता है। पित्रादि द्वारा खाया गया अचेतन अन्नादि और ऊर्णनाभि द्वारा भुक्त पदार्थ क्रमशः पुत्रादि के अचेतन शरीर और तन्तु के प्रति उपादान होते हैं,किन्तु चेतन जीव निमित्त ही होता है।

रामानुज मत में जगत् को ब्रह्म का परिणाम और मायावाद में उसे ब्रह्म का विवर्त माना गया है। इन दोनों मतों का विशद खण्डन करते हुए जयतीर्थ ने सर्वथा ब्रह्म के निमित्तत्व का सयुक्तिक समर्थन किया है। उन्होंने चार प्रकार के परिणाम बताये हैं जो सभी पराधीन होते हैं। ब्रह्म में किसी भी प्रकार का परिणाम सम्भव नहीं है। स्वयं ही ब्रह्म को नानाविध अनर्थ रूप वाले जगत् में परिणत होने वाला नहीं माना जा सकता है। ब्रह्म के चित् और अचित् भाग मान कर उनमें भेदाभेद मानना भी अनुपपन्न है। परिणामवादियों की ओर से उपादानत्व के समर्थन में `जनिकर्तुः प्रकृतिः` आदि व्याकरण के सूत्रों को प्रस्तुत किया है क्योंकि `यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते` वाक्य में `यतः` में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है और पञ्चमी प्रकृति या उपादान में की जाती है। जयतीर्थ ने यहाँ पर उपादानत्व और अपादानत्व का अन्तर पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या से समझाया है। उनका कथन है कि `जनिकर्तुः प्रकृतिः` सूत्र अपादान संज्ञा करने वाला है और `अपादाने पञ्चमी` से अपादान में पञ्चमी का विधान है, उपादान में नहीं। उपादान और अपादान में अन्तर अत्यन्त स्पष्ट है। उपादान में पञ्चमी का प्रयोग नहीं होता जैसे `क्षीराद् दधि जातम्` प्रयोग न कर क्षीरमेव दधि जातम्। यहाँ क्षीर, दधि का उपादान है।

विवर्तवाद की आलोचना तो अज्ञान, अनिर्वचनीयता आदि के खण्डन में भी पर्याप्त रूप से की गयी है। जगत् को असत्य मानने पर उसमें अर्थक्रियाकारित्व सम्भव नहीं हो सकेगा। जहां अर्थक्रियाकारित्व होता है, वहां मिथ्यात्व नहीं होता है। आकाशादि जगत् की सत्यता को जयतीर्थ साक्षि-प्रत्यक्ष-सिद्ध मानते हैं। इनसे भिन्न पदार्थ यथोचित नेत्रादि इन्द्रियों, लिङ्ग अथवा शब्द प्रमाण से गम्य है। उन्होंने प्रमाणों का स्वत: प्रामाण्य माना है।

सांख्य और न्याय-वैशेषिक के समान ही माध्व वेदान्त में जीव अनेक तथा नित्य माने गए हैं। जीव यथार्थ कर्ता-भोक्ता और ज्ञानादिमान् है। ईश्वर जीवों का प्रेरक है, वह नियन्ता होने के कारण अन्तर्यामी कहा जाता है। जीव और ईश्वर और जीवों का परस्पर भेद स्वाभाविक है। जीवों में परस्पर तारतम्य या नीचोच्च भाव में जयतीर्थ ने अनादि योग्यता को प्रयोजक माना है। यदि जीवों की अनादि-योग्यता एक समान होती तो प्रत्येक जन्म में समान कर्मों तथा फलों के होने से वर्तमान में भी साम्य होता, किन्तु ऐसा नहीं है। अद्वैत-मत में ब्रह्म और जीव को एक ही मानते हुए उनमें भेद को अज्ञान-कल्पित माना गया है। अज्ञान के दूर हो जाने पर सहज ऐक्य ज्ञात हो जाता है। जयतीर्थ ने इस मत का खण्डन श्रुतियों का प्रामाण्य देते हुए ही सिद्ध किया है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' पदों में भाग-त्याग लक्षणा असंगत है। प्रत्यक्षादि से दु:खादिमान् जीव और आनन्दादि-युक्त ईश्वर का भेद सर्वानुभूत है। भेद के मिथ्यात्व या अनिर्वचनीयत्व की आलोचना में जयतीर्थ द्वारा प्रस्तुत तर्क सर्वथा उचित हैं। 'तत्त्वमसि' वाक्य में जीव को ईश्वर के समान चैतन्यादि युक्त होने से सादृश्य के कारण गौण अभेद का कथन किया गया है, जिस प्रकार शौर्यादि सादृश्य के कारण 'सिंहो देवदत्त:' का गौण कथन किया जाता है।

जीवों को ईश्वर का अवभास कहते हुए जयतीर्थ ने उनका अवभासत्व जीवों के ईश्वराधीन और उसके सदृश होने के कारण माना है। और इस प्रकार भेदाभेद की भी आलोचना की है।

मोक्ष के साधन के सम्बन्ध में तो मध्व ने विशद विवेचन किया है। मध्वाभिमत मोक्ष का स्वरूप और साधन स्वर्ग के समान कहा जा सकता है। ईश्वर की कृपा ही मोक्ष का एकमात्र साधन है विषय वैराग्यादि ईश्वर-प्रसाद में साधन होने पर परम्परया मोक्ष के साधन माने जाते हैं। जयतीर्थ ने ज्ञान या शून्य की मोक्षसाधनता को सर्वथा अनुपपन्न बताया है। वैराग्यादि-पूर्वक ईश्वर का ज्ञान हो जाने पर भी ईश्वरेच्छा से मोक्ष में विलम्ब उपपन्न है किन्तु अद्वैतमत या शून्यवादी मत के अनुसार ज्ञान को ही मोक्ष का परम साधन मानने पर ज्ञान के अनन्तर मोक्ष-प्राप्ति में विलम्ब नहीं होना चाहिए, ज्ञानी को तत्काल देहादि से मुक्त हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। अत: ज्ञान को मोक्ष का परम साधन मानना असंगत है। सांख्याभिमत प्रकृति-पुरुष-विवेक को भी जयतीर्थ मोक्ष का परम्परया साधन मानते हैं। यद्यपि योग, न्याय और वैशेषिक मत में ईश्वर-प्रसाद को मोक्ष का साधन माना गया है, किन्तु वैकल्पिक या सहायक रूप से। अत: जयतीर्थ उनसे भी असहमति व्यक्त करते हैं। भगवत्-प्रसाद के समकक्ष अन्य कुछ भी उन्हें स्वीकार्य नहीं है। इस विषय में यद्यपि जयतीर्थ का मत कुछ पक्षपातपूर्ण कथन सा लगता है, किन्तु वस्तुत: उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति का जो क्रम बताया है वह अत्यन्त स्वाभाविक है। उनके अनुसार निष्काम भावना से भगवान् की प्रसन्नता के लिए श्रुति-स्मृत्यादि-विहित कर्मों का अनुष्ठान करने से पुरुष का अन्त:करण शुद्ध हो जाता है। रागादि का क्षय हो जाने पर हृदय में भक्ति उत्पन्न होती है। भक्तियुक्त होकर शास्त्रों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन का अभ्यास करने वाले भक्त को भगवान् का साक्षात्कार हो जाता है। प्रसन्न हुए भगवान्

उसके कर्मों का नाश करके प्रारब्ध-कर्मों के फलों में ह्रास कर उनका भोग हो जाने पर स्वरूपसुखरूप मोक्ष प्रदान करते हैं ।

मोक्ष सुख में तारतम्य का मत अनुपयुक्त लगता है,क्योंकि सुख के सातिशय होने से अल्प सुख वाले को अधिक सुख वाले के प्रति ईर्ष्यादि उत्पन्न होंगे जो दु:ख का कारण है । किन्तु जयतीर्थ यह समाधान प्रस्तुत करते हैं कि मोक्ष विषय-वैराग्यादि पूर्वक ईश्वर का भक्ति से प्राप्त होता है,और वैराग्यादि ईर्ष्यादिदोष रहित होने पर ही होते हैं । ईश्वर के साक्षात्कार हो जाने पर पुरुष के अन्दर पुन: दोषों की उत्पत्ति सम्भव नहीं है । अत: मोक्ष सुख में तारतम्य सर्वथा समीचीन है ।

जयतीर्थ का अभिमत मोक्ष अदेहत्व या निर्विशेषत्व की स्थिति नहीं है, अपितु स्वरूप सुख पूर्ण है । वे इस सम्बन्ध में `स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाण:` इत्यादि श्रुतियों का प्रमाण देते हैं । यहाँ पर यह शङ्का होती है कि यदि मोक्षावस्था में सुख है तो उसके साथ दु:ख भी होगा। जयतीर्थ का कथन है कि प्राकृत देह और सुख के साथ दु:ख का संयोग होता है, किन्तु मोक्षावस्था का सुख भगवत्प्रसाद से प्राप्त होने वाला स्वरूप सुख है । भगवत-प्रसाद में अनिष्ट की आशङ्का नहीं की जा सकती है ।

न्यायसुधा में जयतीर्थ की भाषा व शैली अत्यन्त स्पष्ट एवं विचारों की गहनता लिये हुए हैं । सम्पूर्ण कृति में उन्होंने एक दार्शनिक तथा उत्कृष्ट टीकाकार का दायित्व पूर्णरूप से निभाया है । वे न केवल सम्पूर्ण दर्शनों के अपितु व्याकरणादि विषयों के पूर्ण पण्डित थे । इस कृति में अनेक स्थलों पर उन्होंने यथोचित व्याकरणात्मक व्युत्पत्तियां और व्याख्याएं प्रस्तुत की है । अपनी सूक्ष्म बुद्धि से उन्होंने यत्र तत्र मध्व के एक एक लघु वाक्य की अनेक प्रकार से पाण्डित्यपूर्ण व्याख्याएं दी हैं तथा विभिन्न प्रबल पूर्वपक्षी

मतों का युगपत् खण्डन किया है । मध्व के `विष्णावि ` जैसे अपाणिनीय प्रयोगों को उन्होंने वैदिक प्रयोग का महत्व प्रदान किया है । किसी भी विषय पर विचार करते समय उन्होंने सूक्ष्मातिसूक्ष्म शङ्काओं का भी समुचित समाधान प्रस्तुत किया है । पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए वे अत्यन्त गहन तर्क प्रस्तुत करते हैं तथा सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते समय बीच-बीच में भी यथास्थान शङ्कायें उठाते हुए उनका उत्तर देते जाते हैं ।

इस प्रकार न्यायसुधा सर्वोत्कृष्ट टीका के अतिरिक्त एक उत्तम दार्शनिक कृति है, जिसका स्थान द्वैत-वेदान्त में अद्वितीय है । अपनी उच्च विशेषताओं के कारण ही द्वैतानुयायियों में यह `सुधा ` नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध है । `सुधा वा पठनीया वसुधा वा पालनीया ` उक्ति इसकी गहनता की परिचायिका है । द्वैत मत के सम्पूर्ण विचारों का यह एक कुशल अवबोधक है ।

-o-

सहायक ग्रन्थ-सूची

सहायक ग्रन्थ-सूची

१- ऐतरेयोपनिषद्	गीताप्रेस गोरखपुर
२- तैत्तिरीयोपनिषद्	,, ,,
३- मुण्डकोपनिषद्	
४- छान्दोग्योपनिषद्	,, ,,
५- श्रीमद्भगवद्गीता	
६- बृहदारण्यकोपनिषद्	
७- ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य (सत्यानन्दी दीपिका) (स्वामी सत्यानन्द सरस्वती)	गोविन्दमठ टेढ़ीनीम, वाराणसी
८- ईशावास्योपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर
९- वेदान्तसार (सदानन्द योगीन्द्र) (टीकाकार--सन्तनारायण-श्रीवास्तव्य)	लोकभारती प्रकाशन १५-ए गान्धी मार्ग, इलाहाबाद
१०- पूर्णप्रज्ञभाष्य (मध्वाचार्य) सम्पादक - ललितकृष्णगोस्वामी	श्रीनिम्बार्कपीठ, १२ महाजनी टोला, प्रयाग सम्वत् २०३१

११- न्यायदर्शन (वात्स्यायनभाष्य) — चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
(सम्पादक - श्रीनारायण मिश्र)

१२- श्वेताश्वतरोपनिषद् — गीताप्रेस गोरखपुर

१३- अष्टाध्यायी
(पाणिनि)

१४- कणाद सूत्र — Panini Office, Bhuvaneswari Asrama, Bahadurganj, Allahabad.
(Vaisesika Sutras of Kanada)
(Edited by Major B.D. Basu)

१५- ब्रह्मसूत्रभाष्य पञ्चक समीक्षणम् — चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
(लेखक - डा० रामशरण त्रिपाठी)

१६- अनुव्याख्यान — निर्णयसागर मुद्रणालय, मुंबई सन् १९१५
(मध्वाचार्य)

१७- गौडपाद कारिका — गीताप्रेस गोरखपुर

१८- योगसूत्रभाष्यसिद्धि — संवित्प्रकाशन इलाहाबाद
(टीकाकार - डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव)

१९- मुण्डकोपनिषद् | गीताप्रेस गोरखपुर

२०- ऋग्वेदसंहिता

२१- अणुमध्वचरित
(हृषीकेशतीर्थ)

२२- महाभारत तात्पर्यनिर्णय
(मध्वाचार्य)

२३- गुरुचर्या
(व्यासतीर्थ)

२४- गीतान्यायदीपिका
(जयतीर्थ)

२५- न्यायामृत
(व्यासराय)

२६- वादरत्नावली
(विष्णुदासाचार्य)

२७- गीताभाष्यप्रमेयदीपिका
(जयतीर्थ)

२८- खण्डनखण्डखाद्य (श्री हर्ष)	अच्युत ग्रन्थमाला काशी
२९- भारतीयदर्शन चट्टोपाध्याय एवं दत्त	पुस्तक भण्डार पटना
30. A History of Indian Philosophy (Dr. S. N. Dasgupta)	Motilal Banarasidas
31. A History of Dvaita School of Vedanta (Dr. B.N.K Sharma)	Booksellers & Publishing Co. ... Bombay
32 न्यायसु[illegible] [illegible]	[illegible]